तरुण-भारत-ग्रन्थावली-सं० ३३

साहित्य-सुषमा

(साहित्य के भिन्न भिन्न अंगों का प्रदर्शन)

साहित्य

साहित्य सुषमा

सम्पादक
नन्ददुलारे वाजपेयी
लक्ष्मीनारायण मिश्र

द्वितीयावृत्ति] सं० २००२ वि० [मूल्य १)

पुस्तक मिलने का पता—

१—तरुण भारत ग्रन्थावली कार्यालय,
गांधीनगर, कानपुर

२—साहित्य-मन्दिर, दारागंज, प्रयाग

निवेदन

बहुत दिन से इच्छा थी कि साहित्य के भिन्न-भिन्न अंगों पर हिन्दी के सुप्रसिद्ध विद्वानों के लिखे हुए विद्वत्ता-पूर्ण निबन्धों का एक सुन्दर संग्रह प्रकाशित किया जाय। पर निबन्धों की खोज और उनका सम्पादन कोई सरल काम न था। संयोगवश पंडित नन्ददुलारे जी वाजपेयी से इसकी प्रार्थना की गई। वाजपेयी जी ने अपनी स्वाभाविक सुशीलता से प्रार्थना स्वीकार की; और पंडित लक्ष्मीनारायण जी मिश्र की सहायता से यह संग्रह-ग्रन्थ सम्पादित कर दिया।

सम्पादकों ने अपनी मार्मिक साहित्यिक दृष्टि से निबन्धों का चुनाव कितना सुन्दर किया है, निबन्धों के सम्पादन करने में कितना परिश्रम किया है, सो सुविज्ञ पाठकों को बतलाने की आवश्यकता नहीं। विशेष कर अपने-अपने विषय के विशेषज्ञों और तज्ञों के ही निबन्ध इस संग्रह में रखे गये हैं। ऐसा नहीं है कि हिन्दी-साहित्य के सभी तज्ञों और विशेषज्ञों के निबन्ध इसमें आ गये हों—इनके सिवाय हमारे अन्य विद्वान् साहित्यकारों ने भी साहित्य के अन्याय अंगों और उपाङ्गों पर निबन्ध लिखे हैं। परन्तु ग्रन्थ बहुत बढ़ न जाय; और साहित्य के विशेष-विशेष अंगों का समावेश भी इसमें हो जाय, यही दृष्टि रखी गई है।

आशा है, हिन्दी-साहित्य का अध्ययन और अध्यापन करने वाले साहित्य-रसिकों को यह प्रयत्न सुन्दर और शुभ लगेगा।

—प्रकाशक।

विषय-सूची

काव्य-साहित्य के उपकरण

लेखक—रा० ब० बाबू श्यामसुन्दरदास बी० ए०

यह संसार असंख्य जीवधारियों की निवास-भूमि है। प्रत्येक जीव आत्मवान् है। ज्ञान, इच्छा और क्रिया ये आत्मा की तीन वृत्तियाँ मानी गई हैं। जिस प्रकार प्रत्येक जीव आत्मवान् है उसी प्रकार प्रत्येक में अनात्मभाव भी है। आत्म और अनात्म के सम्मिश्रम से ही जीवमात्र की रचना हुई है। गोस्वामी तुलसीदास ने इसी को 'जड़-चेतन की ग्रंथि' कहकर अपना प्रसिद्ध रूपक बाँधा है। संसार का संसरण इसी सम्मिश्रण का रूप है। आत्म और अनात्म दोनों ही परमात्मा में हैं जिसकी लीला का यह संसार हमारी आँखों के सामने फैला हुआ है। जितने जीवधारी हैं सबमें आत्मभाव और अनात्म-भाव भिन्न-भिन्न मात्राओं में व्याप्त हो रहा है। इसीलिए जीवों के अगणित रूप हैं। एक परमात्मा का यह अगणित रूप "एकोऽहं बहुस्याम्" के श्रुति-वाक्य से सिद्ध होता है। किसी जीव में आत्मभाव प्रबल है, किसी में अनात्म-भाव प्रबल है। इन्हीं जीवों से एक राष्ट्र का, एक संसार का, एक समष्टि का निर्माण होता है। इसलिए हम बहुधा किसी राष्ट्र को सतोन्मुख और किसी को असतोन्मुख कहते हैं, संसार में कभी सतयुग और कभी कलियुग का प्रवेश बतलाते हैं और समष्टि-चक्र में कभी आत्मा की तथा कभी अनात्मा की अधिकता पाते हैं। मूल में पहुँचने पर हम प्रत्येक जीव के आत्मभाव और अनात्मभाव का दर्शन करते हैं, जिनके संयोग से यह बहुरूपी संसार भास रहा है।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि आत्मभाव और अनात्मभाव क्या है जिनका सम्मिश्रित रूप हम भिन्न-भिन्न जीवों में देख रहे हैं। क्यों हम किसी जीव को साधु तथा सदाचारी और किसी अन्य को असाधु तथा दुराचारी कहते हैं। आज एक व्यक्ति हमारे सामने आता है जो आत्महत्या करने को तैयार है। उसकी बातें किस प्रकार की होती हैं? वह कहता है कि आत्मा कुछ नहीं है, केवल जड़ संसार सब को घेरे हुए है। संसार में न्याय कहीं

नहीं, क्लेश सर्वत्र है। आचार के स्थान पर दुराचार और न्याय के स्थान पर अत्याचार का ही व्यापार सब ओर फैल रहा है। आज यह सुन लेने के बाद कल किसी दूसरे जीव से आपकी भेंट होती है। वह कहता है, आत्मा ही सब कुछ है। इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। सत्य ही संसार का स्वरूप है। सत्य ही आचार है। अब इन दोनों जीवों के वचनों की तुलना कीजिए। एक में आप अनात्मभाव की पराकाष्ठा और दूसरे में आत्मभाव का विशद रूप देखते हैं। ऊपर तो हमने केवल दो उदाहरण लेकर आत्म और अनात्म का विभेद दिखानें की चेष्टा की है। वास्तविक संसार में तो यह विभेद बहुतों को दृष्टिगोचर भी नहीं होता। जितने जीव हैं सब में ये दोनों भाव भिन्न-भिन्न मात्राओं में व्याप रहे हैं, जिनका आदि-अंत मिलना बहुत ही कठिन है। प्रश्न यह है कि आत्म और अनात्म का भेद क्या है, स्वरूप क्या है, पहचान क्या है?

इन प्रश्नों का उत्तर दार्शनिकों ने अनेक प्रकार से दिया है; पर उन सब का प्रस्तुत विषय से सम्बन्ध नहीं है। हमारे लिए तो यही जान लेना पर्याप्त है कि आत्म और अनात्म का भेद संसार में दिखाई देता है और इस भेद के अंतर्गत उसके अगणित उपभेद मिलते हैं। 'भिन्न रुचिर्हि लोकः' 'मुंडे-मुंडे मतिर्भिन्ना' आदि अनेक उक्तियों में इसी भेद की ध्वनि भरी हुई है। आत्म और अनात्म का स्वरूप क्या है, यह हम ऊपर के उदाहरण में प्रकट कर चुके हैं। इन दोनों के मुख्य-मुख्य लक्षणों के संबंध में पंडितों ने प्रकाश डाला है। आत्मा का गुण आनन्दमय ठहराया गया है। आनन्द का विस्तार, प्रसार, उन्नयन—ये आत्मिक क्रियाएँ कही गई हैं। इसी के विरोधी गुण तथा क्रियाएँ अनात्मा की मानी गई हैं। किसी जीवधारी में आनन्द का आधिक्य होता है, किसी में उसकी न्यूनता होती है, किसी अन्य में इसके विपरीत भाव देख पड़ते हैं। इसी चक्र से यह संसार चल रहा है।

आनन्द और विषाद, आकर्षण और विकर्षण, अनुराग और विराग ये क्रमशः आत्मा और अनात्मा के विषय हैं और ये ही साहित्य के भी विषय हैं। आत्म और अनात्म के सहित—यही साहित्य की सबसे सत्य व्याख्या हो सकती है। जैसे नित्य-प्रति के जीवन में हमारी ज्ञान, इच्छा और क्रिया की

वृत्तियाँ आनन्द और विषाद, आकर्षण और विकर्षण, आत्म और अनात्म के अगणित द्विधा भेदों के साथ संयुक्त हो जाती हैं, वैसे ही साहित्य में भी। जीवन में जो प्रमुख इच्छाएँ और कामनाएँ हैं, साहित्य में वे ही स्थायी भाव हैं। जीवन में जिस प्रकार प्रत्येक जीव अपनी इच्छाओं की पूर्ति द्वारा अपने आनन्द का विस्तार करना चाहता है, उसी प्रकार साहित्य का भी प्रत्येक पाठक अपने अनुरूप 'रस' प्राप्त करना चाहता है। जिस प्रकार किसी देश, जाति अथवा राष्ट्र का जीवन उसके प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का समष्टि रूप है और जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति संसार में अपने जीवन को अपने ही पथ पर ले चलता और आप ही अपना विकास करता है उसी प्रकार साहित्य में भी समष्टिरूप से सब के योग्य सामग्री और सब के विकास के साधन रहते हैं। सारांश यह कि हमारा साहित्य भी हमारे सृष्टिचक्र के तुल्य ही नानात्व के सहित है। यदि ऐसा न होता तो उसका साहित्य नाम कैसे सार्थक होता? हमारी समझ में चैतन्य मनुष्य ने अपने अनुरूप ही साहित्य की यह सजीव प्रतिमा निर्मित की है।

दिव्यदृष्टि कवि तुलसीदास ने 'भावभेद रसभेद अपारा' कहकर रामायण के आरंभ में काव्य और साहित्य की वास्तविक दिशा इंगित की है। यह विश्वचक्र भारतीय दर्शन द्वारा भावमय माना जाता है। पाश्चात्य शास्त्र भी भावजगत् की स्वतंत्र सत्ता मानते हैं। पश्चिम के विद्वानों में इस विषय को लेकर शताब्दियों तक मतवाद चला; परन्तु प्रारम्भ से ही अनेक दार्शनिकों को यह आभास मिलता रहा है कि मनुष्य की बौद्धिक, काल्पनिक आदि शक्तियाँ भावजगत् की सृष्टि में योग तो देती हैं परन्तु वह भावजगत् अपनी पूर्णता में निर्विकल्प और अद्वैत है। यूरोप में इस विषय का शास्त्रीय निर्धारण करनेवाले दार्शनिकों में प्रमुख इटली का क्रोस है, जिसने अनेक प्रमाण उपस्थित कर यह सिद्ध किया है कि यद्यपि कारण-रूप से मनुष्य की चैतन्य वृत्तियाँ अनेक रूपों द्वारा भावजगत् का निर्माण करती हैं, कभी बाह्य सृष्टि की वस्तुएँ, कभी अपने ही अंतर की कल्पनाएँ मनुष्य को भावमय बनाती हैं: परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि भावजगत् किन्हीं अन्य उपकरणों पर अवलम्बित अपने निजत्व में अपूर्ण है। वह सब प्रकार से अपने में पूर्ण और निरपेक्ष

है। भावों की यह अप्रतिहत धारा सारी सृष्टि को सजीव बना रही है। साहित्य इसी व्यापक भावचक्र के सहित है। व्यष्टि-रूप से एक-एक काव्यकृति का संबंध उसके रचयिता और उसके उन भावों से है जिन्हें उसने उस अपार भावभेद से लेकर कृति-विशेष में संचित किया है। भिन्न-भिन्न रचनाकार अपनी विभिन्न काव्य-रचनाओं में उसी अपार भावभेद की निधि से अपने मनोनुकूल मणिरत्न चयन करते हैं और युग-युग में यही क्रिया संतत क्रियमाण होती रहती है। इसी क्रिया का सामूहिक प्रतिफल साहित्य कहलाता है। अतः साहित्य को भावजगत् का प्रतीक भी कह सकते हैं। काव्य में व्यक्ति अपनी रुचि और शक्ति के अनुसार भावों की एक नियमित मात्रा ही एक विशेष भाषा और परिमित शब्द-शक्ति द्वारा प्रकट करता है। युग-युग में संचित होकर यही काव्य-कृतियाँ साहित्य का रूप धारण करती हैं और वही भावराशि देश तथा जाति की संस्कृति और सभ्यता की मापरेखा बनकर अपना अस्तित्व दृढ़ करती है।

सौंदर्य

निस्सीम भावजगत् से, जिसे गोस्वामी जी ने 'अपार भावभेद' का विशेषण दिया है, यथेच्छ भावराशि चुनकर सजित करना ही काव्य की व्यापक व्याख्या हो सकती है। यहीं से यह स्पष्ट हो जाता है कि चयन और साज-सज्जा प्रत्येक काव्य की प्राथमिक विशेषताएँ हैं। इन दोनों के विभेद प्रायः अगणित होते हैं। इस दृष्टि से काव्य का कोई एक स्वरूप-निर्धारण नहीं किया जा सकता। केवल उसके प्रमुख उपकरण जाने जा सकते हैं। एक व्यक्ति अपने भावों की अभिव्यक्ति करना चाहता है, अर्थात् उसकी इच्छा काव्य रचने की होती है। वह प्रथम बार एक प्रकार के शब्दों तथा व्याक्य-समुच्चयों का प्रयोग करता है; पर उसे संतोष नहीं होता; क्योंकि वे शब्द तथा वे वाक्य-समुच्चय उसके भावों को व्यक्त करने में असफल और असमर्थ होते हैं। वह पुनः प्रयत्न करता है। इस बार दूसरे शब्दों तथा छंदों आदि से काम लेता है। फिर भी अभिव्यक्ति का स्वरूप उसे असुन्दर जान पड़ता है। अनेक बार प्रयत्न करने के बाद एक बार आप से आप उसकी लेखनी से प्रकृत रचना फूट निकलती है। वह इसका आनंद लेता है और कुछ काल के लिए भावमग्न होजाता है। इस लिए कि उसकी अभिव्यक्ति यथेष्ट और सुन्दर हुई है।

ऊपर के विचार से 'सुन्दर' यही काव्य का मौलिक उपकरण सिद्ध होता है। पर यह 'सुन्दर' वास्तव में क्या है ? कलाकार ने प्रथम कई बार प्रयत्न करके जो अभिव्यक्ति की वह सुन्दर नहीं हुई। अन्त में एक बार वह सुन्दर हो गई। उससे उसे आनन्द भी प्राप्त हुआ। परन्तु प्रश्न यह है कि वह कौन-सी विशेषता है जो उसकी अन्तिम बार की अभिव्यक्ति को सुन्दर बना देती है, जिसके अभाव में प्रथम कई बार के उसके प्रयास असुन्दर कहे गए। इस प्रश्न का उत्तर सहज नहीं है। पाश्चात्य पंडितों ने काव्यगत 'सुन्दर' की व्याख्या करने में बहुत अधिक शक्ति और समय लगाया; परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि वे सफल हुए। हमारे संस्कृत वाङ्मय में अनेक साहित्यिक संप्रदायों ने अनेक प्रकार से उक्त सौन्दर्य पर प्रकाश डालना चाहा; परन्तु इस अनेकता में ही वास्तविक तथ्य छिपा रह गया। काव्यकार की वह अभिव्यक्ति जो उसे सुन्दर प्रतीत हुई है और जिसका उसने सम्यक् आनन्द लिया है यदि किसी काव्य-समीक्षक को दी जाय तो संभव है उस समीक्षक को वह सुन्दर प्रतीत हो अथवा न भी प्रतीत हो। यदि वह एक समीक्षक को सुन्दर प्रतीत हो तो संभव है कि दूसरे समीक्षक को वह वैसी न प्रतीत हो। इस रुचिभेद का क्या कहीं आदि अंत है ? क्या काव्यगत सौन्दर्य की कोई निश्चित व्याख्या की जा सकती है; और क्या कोई ऐसा काव्य है जो सब देशों में सब कालों में एकसा ही सुन्दर माना गया हो ? इसका उत्तर नकार में ही देना पड़ता है; परन्तु इससे एक बात, जो स्पष्ट हुए बिना नहीं रह सकी, यह है कि सौन्दर्य काव्य का एक अभिन्न अंग है। यह बात दूसरी है कि सौन्दर्य की कोई निश्चित व्याख्या करना असंभव हो। जिस प्रकार काव्य में सुन्दरता का निरूपण करके उसकी स्पष्ट तथा सर्वमान्य व्याख्या करना असंभव है, उसी प्रकार संसार की समस्त वस्तुओं के संबंध में सुन्दरता का आदर्श निश्चित करना असंभव है। यद्यपि सुन्दरता, असुन्दरता आदि शब्द सापेक्षिक भावों के द्योतक हैं, फिर भी भिन्न-भिन्न देशों में इसकी कसौटी भिन्न तथा अपने आदर्श, संस्कृति और सभ्यता के अनुसार निश्चित की गई है। उदाहरण के लिए यदि हम मानव शरीर की सुन्दरता का आदर्श अपने सामने रख लें तो इस विभेद का स्पष्टीकरण भली भाँति हो जायगा। किसी देश में छोटे पाँव और छोटी आँखें

सुन्दर मानी जाती हैं तो दूसरे देश में सुडौल पैर तथा लंबी या गोल आँखें सुन्दर मानी जाती हैं। कहीं भूरे बाल और कंजी आँखें सुन्दरतासूचक समझी जाती हैं। दूसरे देशों में काले बाल तथा काली आँखें ही सुन्दरता का आदर्श हैं। इसी प्रकार बहुत से उदाहरण दिये जा सकते हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि आदर्शों में इतने भेदों का क्या कारण है ? विचार करने पर इसका मूल कारण रुचि-वैचित्र्य तथा भिन्न-भिन्न संस्कृतियों तथा सभ्यताओं का क्रमिक विकास जान पड़ता है। सब देशों ने अपने-अपने देवी-देवताओं को ऐसा रूप दिया है जिसे उनकी कल्पनाओं ने सर्वोत्तम निर्धारित किया है। इस आदर्श को सामने रखकर हम प्रत्येक देश की सुन्दरता की कसौटी जानने में समर्थ हो सकते हैं। इसी प्रकार काव्य की सुन्दरता भी भिन्न-भिन्न रुचि तथा आदर्शों पर निर्भर रहती है और यह आपेक्षिक विभेद केवल व्यावहारिक सामंजस्य के लिए आवश्यक है। तत्त्व-निर्धारण के लिए तो इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि सौन्दर्य काव्य का अनिवार्य उपकरण है।

रमणीय अर्थ

"रस-गंगाधर" नामक संस्कृत ग्रंथ में कहा गया है कि रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है। अर्थ की रमणीयता के अंतर्गत कुछ विद्वान् शब्द की रमणीयता भी स्वीकार करते हैं। प्रश्न यह है कि रमणीयता से किस विशेष तत्त्व का बोध होता है जिसकी हम एक निश्चित परिभाषा कर सकें। इस देश के पुराने विद्वानों की यह रीति थी कि वे अपने विचारों को संक्षिप्त से संक्षिप्त शैली में अर्थात् सूत्र, कारिका आदि के रूप में प्रकट करते थे। यदि विचार-पूर्वक देखा जाय तो उनमें सूत्रकारों की बुद्धि का अपूर्व चमत्कार देख पड़ता है। क्या यह चमत्कार रमणीयता की उपाधि नहीं धारण कर सकता ? विद्वानों के लिए अवश्य ही करता है; परन्तु बहुतों को इनमें कुछ भी रमणीयता नहीं मिलती। जब उन सूत्रों की विस्तृत व्याख्या की जाती है तभी उनकी रमणीयता उन्हें प्रकट होती है। अतएव सूत्ररचना-काल के उपरान्त संस्कृत साहित्य के इतिहास में वह काल आया जब व्यासरूप से विषयों का निरूपण किया जाने लगा। ऐसे निरूपणों से रमणीयता विशेष मात्रा में मानी गई। परन्तु यहाँ भी मात्रा का ही प्रश्न रहा। पश्चिम में भी

प्राचीन काल में बहुत से विषयों की व्याख्या सूत्ररूप में ही की जाती थी। परन्तु धीरे-धीरे वह प्रणाली टूटती गई। विषय-निरूपण विस्तारपूर्वक किया जाने लगा। काव्य की व्याख्या करनेवालों ने कहा—"काव्य के अंतर्गत वे ही पुस्तकें आनी चाहिए जो विषय तथा उसके प्रतिपादन की रीति की विशेषता के कारण मानव-हृदय को स्पर्श करनेवाली हों और जिनमें रूप-सौष्ठव का मूलतत्त्व तथा उसके कारण आनन्द का जो उद्रेक होता है उसकी सामग्री विशेष प्रकार से वर्तमान हो।" व्याख्याकार का आशय अर्थ की रमणीयता से स्पष्ट ही है। इसी रमणीयता के मोह में पड़कर कुछ कवि या ग्रन्थकार ऐसे भी हो गए हैं जिन्होंने वैद्यक और ज्योतिष के ग्रन्थों को भी रमणीय बनाने का बीड़ा उठाया था। उन्होंने उस प्रकार की रचना इस उद्देश से की थी कि लोग उनके ग्रंथों को चाव से पढ़ें। लोलिंबराज कृत वैद्यजीवन और वैद्यावतंस पुस्तकें ऐसी ही हैं। ये दोनों ही संस्कृत भाषा में हैं। ज्योतिषशास्त्र की भी दो एक पुस्तकें इसी ढंग की हैं। परन्तु प्रश्न यह है कि उनमें कितनी वास्तविक रमणीयता मिलती है और क्या उन ग्रंथकारों की वह चेष्टा अनधिकृत नहीं थी? ज्ञान का प्रत्येक क्षेत्र रमणीयता का ही क्षेत्र नहीं बनाया जा सकता और न वैद्यक के ग्रंथ में कविता-पुस्तक की-सी रमणीयता लाई जा सकती है। जो विषय शास्त्रीय बुद्धि की अपेक्षा रखते हैं और जिनसे मनुष्य के शारीरिक स्वास्थ्य और रोगोपचार का संबंध है, उन्हें रमणीय बनाने का प्रयास विशेष रूप से कृत्रिम-सा हो जाता है तो भी रमणीयता के सन्निवेश से वे शुष्क विषय भी कुछ न कुछ आकर्षक बन ही जाते हैं। सारांश यह कि विविध विषयों में रमणीय अर्थ का प्रतिपादन विविध मात्रा में योग्य अथवा अयोग्य होता है और 'रमणीय अर्थ' स्वयं ही एक सापेक्षिक शब्द है। तथापि इतना तो अवश्य ही प्रकट है कि वह काव्य का एक आवश्यक उपकरण है।

अलंकार और रस

रमणीय अर्थ के प्रतिपादन के लिए संस्कृत में अलंकारों की विशेष रूप से योजना की गई है और रस तो काव्य की आत्मा ही माना गया है। अलंकार का प्रयोजन उस अंग-विशेष को अधिक आकर्षक बना देना है जिस पर वह धारण किया जाय। देखनेवाले की आँखें उस अंग-विशेष में गड़ जाँय

इसी प्रयोजन से अलंकारों की सार्थकता है। काव्य में भी अनेकानेक अर्थालंकार और शब्दालंकार बनाए गए हैं। जिसमें वे पाठकों का ध्यान उस वर्णन-विशेष की ओर आकर्षित कर दें और उनकी मन की आँखों को उसमें गड़ा दें। इसका परिणाम यह हो कि इससे चित्त किसी प्रबल मनोवेग से चमत्कृत हो जाय और काव्य रसमय होकर उसके लिए आस्वाद्य बन जाय। धीरे-धीरे उक्त काव्यालंकारों की तालिका बना दी गई और रस की एक पद्धति तैयार कर ली गई। परंतु यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो अलंकारों की कोई गणना नहीं की जा सकती और न सीमा बाँधी जा सकती है। कभी-कभी तो अलंकार काव्य-कामिनी के लिए भार-स्वरूप बन जाते हैं, जिससे उसकी स्वच्छ और नैसर्गिक सुन्दरता तिरोहित हो जाती है। यह भी देखा जाता है कि एक युग-विशेष के ग्रंथकार जिन अलंकारों को सुरुचि के साथ सजाते हैं, दूसरे युग के लेखक उन्हें हेय समझते हैं। परिपाटी के अनुसार जिस प्रसंग में जो अलंकार शोभा के आगार और सुरस का संचार करनेवाले माने गए हैं समय और रुचि के भेद से कुरस का भी प्रसार करते हैं। इस लिए अलंकारों की इयत्ता क्या है, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। यही बात रसों के लिए भी कही जा सकती है। कथन की कोई शैली, विचारों की कोई उड़ान, जब हृदय की कोई घुंडी खोल देती है और किसी प्रबल मनोवेग से चित्त चमत्कृत हो उठता है तब रस की निष्पत्ति समझी जाती है। परन्तु यह कोई नहीं कह सकता कि काव्य में सर्वत्र रस-निष्पत्ति होनी ही चाहिए। रस का परिपाक तो कहीं-कहीं ही अपेक्षित होता है; तभी काव्य की शोभा भी बढ़ती है। अपूर्ण रस के प्रसंग भी काव्य में योज्य होते हैं और उनसे भी काव्य की शोभा होती है। तरुणी के प्रेमालाप का ही मूल्य नहीं है, उसके कटाक्षपात की भी विशेषता माननी पड़ती है। उसी प्रकार अलंकार और रस भिन्न-भिन्न काव्यों में भिन्न-भिन्न प्रकार से उपकरण बनकर आते हैं। यह तो अधिकतर देखा जाता है कि जो भावयोजना एक देश के लिए बड़ी ही सबल और रसमयी है वह दूसरे देश के लिए बहुत ही निर्बल और नीरस होती है। अतः अलंकार और रस को काव्य का आवश्यक उपकरण मानते हुए भी उनका कोई स्थिर रूप प्रदर्शित करना विवाद की परिधि में पदार्पण करना है।

भाषा

कुछ समीक्षक भाषा को भी काव्य का एक उपकरण मानना चाहेंगे; परन्तु विचार करने पर प्रकट होता है कि भाषा काव्य का उपकरण नहीं है। वह काव्य से अभिन्न ही है। भाषा के बिना काव्य की कल्पना नहीं की जा सकती और न भावजगत् की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त भाषा का कोई दूसरा प्रयोजन जान पड़ता है। भाषाओं की उत्पत्ति के संबंध में भाषा विज्ञान-विशारदों ने जो सिद्धांत उपस्थित किए हैं उनमें सर्वमान्य सिद्धांत विकासवाद का ही है। जैसे जैसे भावों की अभिव्यक्ति अधिकाधिक परिमाण में होती गई है वैसे ही भाषाओं का विकास भी होता गया है। कुछ विचारक यह मानते हैं कि आरम्भ में तो भाषाएँ इसी रूप में विकसित होती गई हैं; पर कुछ काल के अनन्तर जब मनुष्य अधिक सभ्य और भाषा के प्रयोग में अधिक योग्य हो गया तब उसने भाषाओं के नैसर्गिक विकास का आसरा न देखकर एक साथ ही उसे बहुसंख्यक शब्दों से संयुक्त कर दिया। इतिहास में तो इस प्रकार का कोई प्रमाण नहीं मिलता; पर यदि यह मान भी लिया जाय तो भी इससे भाषा-विकास की परम्परा नहीं टूटती और न उसे अभिव्यक्ति-परम्परा से भिन्न मानने की आवश्यकता होती है। जिस किसी विद्वद्वर ने अधिक मात्रा में शब्द गढ़-गढ़ कर भाषा में भरे होंगे उसने उन शब्दों की पर्याय भावमूर्त्तियों की कल्पना भी की ही होगी। निरर्थक अथवा भाव-शून्य शब्द तो हो ही नहीं सकते। अन्त में यही निष्कर्ष निकलता है कि भाषा का विकास चाहे क्रमशः हुआ हो अथवा किसी विशेष काल में किसी असाधारण रीति से ही क्यों न हो गया हो; पर भाषा तो अभिव्यक्ति ही है। काव्य भी अभिव्यक्ति है। इस लिए भाषा को काव्य का उपकरण न मानकर उससे एकाकार मानना ही उचित और बुद्धिसंगत है।

इस मत का अपवाद नाटकों के अभिनय में मिलता है। अभिनय के लिए जो रूपक लिखे जाते हैं उनकी अभिव्यक्ति केवल भाषा द्वारा ही नहीं होती—रंगशाला के नटों, दृश्यों तथा अन्य उपकरणों से भी होती है। नट तथा नर्तकियाँ भावभंगियों द्वारा नाटककार के आशय को स्पष्ट करती हैं और रंगमंच की सजावट उसकी रचना को अधिक प्रभावशालिनी बनाकर व्यक्त

करती है। यह सत्य है; परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि काव्य और भाषा का अभिन्न संबंध टूट गया। जब रूपक-काव्य अभिनय द्वारा अपना प्रभाव उत्पन्न करते हैं तब हमें यह मानना चाहिए कि काव्य अपने प्रकृत क्षेत्र से बाहर जाकर दूसरे उपकरणों को उधार ले रहा है। कलाओं में इस प्रकार का आदान-प्रदान सदैव चला करता है। अभिनयों में यदि रूपक को नृत्य तथा भाषण आदि की सहायता लेनी पड़ती है तो यह अस्वाभाविक नहीं, उचित ही है। मूल में सब अभिव्यक्तियाँ एक हैं, भेद केवल व्यावहारिक है।

सत्य

सभी कलाओं की भाँति काव्य का सत्य भी असाधारण होता है। क्योंकि वह सामान्य सत्य से नहीं मिलता। चित्रों में कुछ रेखाएँ खींच दी जाती हैं और उनका अर्थ हो जाता है एक मनुष्य, एक सुन्दर प्राकृतिक दृश्य, एक विस्तृत घटना। मूर्तिकार माइकेल एंजिलो ने अपने शिष्यों के लिए कुछ आदेश दे रखे थे जिनका अनुसरण करने से कुछ भिन्न प्रकार की रेखाएँ सुन्दरता का मापदंड बन जाती थीं। यूरोप में टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं की चित्रोप-मता के संबंध में बड़ी-बड़ी पुस्तकें तक लिख डाली गई हैं। यहाँ विचार करने का विषय यह नहीं है कि माइकेल एंजिलो की आदिष्ट रेखाओं अथवा उन बड़ी बड़ी पुस्तकों के ऊहापोह से चित्रकला को वास्तविक में क्या लाभ पहुँचा। यहाँ तो जानने की बात यह है कि चित्रकला रेखाओं की सहायता से ही सजीव आकृतियों की अनुरूपता प्राप्त करती है। यही बात काव्य-कला के संबंध में भी चरितार्थ होती है। काव्य में प्रत्येक वाक्य अन्य संयोगी वाक्यों से संश्लिष्ट होकर अपना अर्थ व्यक्त करता है। अतः उसमें सर्वत्र अर्थवाद ही का प्रसार होता है। यद्यपि संस्कृत के आचार्यों ने शब्दों की अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना शक्तियों का अलग-अलग उल्लेख किया है; पर काव्य में प्रयुक्त होने पर शब्दों की ये सभी शक्तियाँ वही प्रभाव नहीं रखतीं जो वस्तुजगत् में वे रखती हैं। काव्यजगत् में आकर प्रत्येक शब्द हमारे उन भावों को जाग्रत करता है जो वासना रूप से हम में निहित रहते हैं। हमारी कल्पना, स्मृति आदि की शक्तियाँ इस कार्य में योग देती हैं और हम एक असाधारण रूप में काव्य का अर्थ ग्रहण करते हैं। जैसे चित्र की रेखाएँ रेखा-मात्र नहीं हैं,

उनका अर्थ वही नहीं है जो एक त्रिकोण क्षेत्र या चतुर्भुज क्षेत्र की रेखाओं का होता है; उसी प्रकार काव्य के वाक्य, पद आदि असाधारण रूप में संश्लिष्ट अर्थ ध्वनित करते हैं। इसी असाधारण अर्थ-ग्रहण से काव्य एक विशेष प्रकार का आनन्द प्रदान करता है जिसे संस्कृत के साहित्य-शास्त्री अलौकिक आनन्द कहते हैं।

कवि अपने काव्य का निर्माण करता हुआ वस्तु-जगत् और कल्पना-जगत् की अनोखी वस्तुओं को रूप प्रदान करता है। वह ऐसी-ऐसी अत्युक्तियों का प्रयोग करता है जो साधारण दृष्टि से स्वप्न में भी सत्य नहीं हो सकतीं। वह ऐसी-ऐसी उपमाएँ लाकर रखता है जिनके केवल एक गुण-विशेष या आकार-विशेष का ही अर्थ ग्रहण कर लिया जाता है और शेष सब से कोई प्रयोजन ही नहीं रखा जाता। काव्यजगत् के ये सब प्रसंग रहस्यमय हैं; परन्तु इनके सत्य होने में संदेह नहीं किया जा सकता। ये जैसे आप से आप ही अपना अनोखापन दूर कर सत्य बनकर प्रतिष्ठित हो जाते हैं। हम एक नाटक का अभिनय देखते हैं। उस नाटक के पात्रों से हमारा कभी का परिचय नहीं। जो अभिनेता हमारे सामने उपस्थित होकर अभिनय कर रहे हैं उनसे हमारा कोई संबंध नहीं। जो कुछ हम देखते हैं वह हमारी वास्तविक परिस्थितियों से बहुत दूर है। पर क्या बात है कि हम उससे प्रभावित होते हैं? बात वही है जो एक चित्र के देखने पर होती है। नाटक भी एक प्रकार का चित्र ही है। वह ठीक चित्रकला के नियमों का पालन करता है। चित्र छोटे से छोटे आकार में बड़े से बड़ा बोध करा सकता है। प्रत्येक रेखा की एक अनोखी व्यंजना हो जाती है। यही कला का सत्य है। यही काव्य का भी सत्य है।

साधारणतः काव्य के सत्य से हमारा अभिप्राय यह होता है कि काव्य में उन्हीं बातों का वर्णन नहीं होना चाहिए, और न होता ही है, जो वास्तविक सत्यता की कसौटी पर कसी जा सकती हैं, पर उनका भी वर्णन होता है और हो सकता है जो सत्य हो सकती हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि यदि यह बात है तो काव्य में अत्युक्ति अलंकार का कोई स्थान ही नहीं होना चाहिए। वह तो सर्वथा असत्य होगा। पर बात ऐसी है कि हम अपने बयान द्वारा पाठकों के हृदय पर वही भाव जमाना चाहते हैं जो हमारे हृदय-

पटल पर जम चुका है। इस लिये उस प्रभाव को ठीक-ठीक शब्दों द्वारा प्रकट करने के लिए हमें उसे बढ़ाकर कहना पड़ता है। "कनकभूधराकार शरीरा" कहने से यह तात्पर्य नहीं होता कि वास्तव में उसका शरीर सोने के पहाड़ के आकार का था। वरन् बात यह होती है कि सोने के पहाड़ को देखकर जो भावचित्र हमारे मन पर अंकित होता है, उस शरीर को देखकर उसकी लंबाई-चौड़ाई तथा ऊँचाई का भी वैसा ही प्रभाव हम पर पड़ता है। अतएव अत्युक्ति-अलंकार में असत्यता का आरोप करना काव्य के मूल उद्देश्य की उपेक्षा करना है।

काव्य के कितने ही अंतर्भेद किए गए हैं। पहले तो गद्य, पद्य और चम्पू की तीन शैलियाँ संस्कृत के काव्य-शास्त्रियों ने अलग-अलग की हैं। फिर दृश्य और श्रव्य काव्य अथवा कविता, नाटक, उपन्यास, आख्यायिका आदि भेद हुए। कविता में गीतकाव्य, खंड काव्य, महाकाव्य आदि। फिर छंदों की अगणित शृङ्खलाएँ और मुक्त वृत, गद्य निबंध, इतिहास, नाना शास्त्र, विद्याएँ और उनके अनेक अंग-उपांग ये सब भेद-उपभेद मिलकर संख्याहीन बन जाते हैं। काव्य की अभिव्यक्ति की कौन सी इयत्ता है? चित्रकला की रेखाओं का क्या लेखा है? कितने रंगरूप हैं! सब मिलकर एक अखण्ड अभिव्यक्ति का रूप धारण कर लेते हैं। अवश्य ही यह अभिव्यक्ति-परंपरा जगत् की एक शाश्वत और अनिर्वचनीय विभूति है, जिसका हम 'साहित्य' कहकर निर्वचन करते हैं।

लोकहित

महाकवि रवीन्द्रनाथ तथा उनके अनुयायियों ने सत्यं, शिवं, सुन्दरम् के तीन गुणों का आरोप जब से काव्य-साहित्य में किया तब से प्रत्येक साधारण समीक्षक के विचार में इन तीनों गुणों का अभिन्नत्व मान्य हो गया है। जब कभी काव्य की चर्चा होती है, इनका उल्लेख किया जाता है। परन्तु जिन्होंने इस विषय में कुछ गंभीर विचार किया है और तथ्य को जानने की चेष्टा की है वे समझते हैं कि सौन्दर्य तथा सत्य तो काव्य के आवश्यक अंग हैं; परन्तु उसके 'शिवत्व' 'लोकहित' आदि के विषय में बहुत कुछ मतभेद है। आधुनिक यूरोप में इस विषय को

लेकर अपरंपार विवाद किए गए हैं। कुछ विद्वानों ने लोकहित को काव्य-विवेचन से बहिष्कृत कर दिया है और उसकी चर्चा करना भी काव्य की सामा में अनुचित समझा है। इसके विपरीत कुछ धार्मिक प्रकृति के लोगों ने काव्य को लोकहित का साधन मात्र मान लिया है और उसके शेष गुणों की अवहेलना कर दी है। इन परस्पर-विरोधी मतों के मध्यस्थ कितने ही अन्य मत खड़े हुए हैं जिन्होंने बड़े सुदृढ़ आधारों पर अपना अड्डा जमाया है। हम कह सकते हैं कि काव्य में यही एक विषय है जिस पर प्रत्येक पक्ष से विचार किया गया है।

जो विद्वान् काव्य और कलाओं के सम्बन्ध में ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करते हैं वे कहते हैं कि कलाएँ भी इस जगत् की ही भाँति निरन्तर विकास कर रही हैं। यूरोप के प्राचीन काल की कलावस्तुओं का अध्ययन करनेवालों ने असभ्य या बर्बर कला का विवरण उपस्थित किया है। उस समय कला-सामग्री का विशेष रूप से अभाव था। अतः उसका विकास भी सीमित क्षेत्र में ही हुआ था। यद्यपि उस बर्बर काल की कला-वस्तुओं का ठीक-ठीक अध्ययन अब भी नहीं किया जा सका है; परन्तु विद्वानों का मत है कि आचार, लोकहित आदि की वर्तमान धारणाओं का उनमें नितान्त अभाव है और उनका सौन्दर्य भी अतिशय निम्नकोटि का है। उस काल के उपरान्त यूरोप में कलाओं के विकास का मध्यकाल आया, जिसे वहाँ वाले कलाओं का स्वर्णयुग कहते हैं। सौन्दर्य और स्वाभाविकता की इतनी प्रचुर मात्रा के सहित उनका निर्माण किया गया है कि उन्हें देखकर उदात्त भावों का संचार हुए बिना नहीं रहता। कलाकार की रचना-चातुरी के सामने हमें सिर झुकाना पड़ता है। क्रिश्चियन मतावलंबी उस काल की मूर्तियों को अपनी धार्मिक दृष्टि से भी देखते हैं और उनमें धर्मतत्त्व का अनुभव भी करते हैं। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि उस बर्बर काल की कलावस्तुओं में हमें कोई सौन्दर्य या सुरुचि नहीं मिलती तो क्या उसके निर्माताओं के हृदय में भी वे भावनाएँ नहीं थीं? थीं, परन्तु अविकसित रूप में थीं। मध्यकाल की धार्मिक प्रेरणा से कला का जो सुन्दर विकास हुआ उससे तो प्रकट होता है कि बाइबल की धर्मपुस्तक और तज्जन्य उदात्त भावनाएँ कला के विकास में सहायक हुईं। वे

इतने प्रबल रूप से सहायक हुईं कि उस काल की कला के उत्कर्ष को परवर्ती कलावस्तुएँ भी नहीं प्राप्त कर सकीं। इस अध्ययन से विद्वानों का निष्कर्ष यह निकला है कि कला का सौन्दर्य और उसका असाधारण सत्य ही उसकी मुख्य अंतरंग विशेषता होती है और धार्मिक तथा अन्य उपकरण कलाकार के व्यक्तित्व में अथवा देश-काल के वातावरण में प्रवेश कर कला के सौन्दर्य और सत्य का उन्मेष करते हैं।

भारत के बौद्धकाल की, तंत्रकाल की तथा गुप्त-काल की मूर्तियों का अध्ययन करनेवाले विद्वानों को उनमें उन कालों के धार्मिक, सामाजिक तथा आचार संबंधी छाप मिलती ही है। बहुत-सी मूर्तियों की रचना तो बौद्ध जातकों, तांत्रिक और ब्राह्मण ग्रन्थों की कथाओं का आधार लेकर की गई हैं। किसी देश, काल अथवा जाति के विचारों की ऐसी परम्परा बन जाती है और उस परंपरा का इतना बलशाली प्रभाव पड़ता है कि कलाओं का विकास बन्द हो जाता है। इस्लाम की धर्मपुस्तकों में एकेश्वरवाद की जो भावना दृढ़ हुई और तत्कालीन नवमुस्लिम अधिपतियों ने मूर्तिपूजा के विरुद्ध जो आक्रमण आरंभ किए वे कला और आचार का ऐतिहासिक सम्बन्ध बतलाने में बहुत कुछ सहायता पहुँचा सकते हैं। उनका सार अर्थ यही जान पड़ता है कि ऐतिहासिक दृष्टि से कला और आचार, कला और धर्म, कला और दार्शनिक परंपरा का कार्य-कारण-सम्बन्ध स्वीकार करना चाहिए।

परन्तु इतिहास के इस निष्कर्ष का अर्थ न समझकर कुछ अद्भुत प्रकार से तथाकथित आदर्शवादी समीक्षक कलाओं के वास्तविक सत्य को न समझ कर धार्मिक विचार से उनकी तुलना करते हैं। उनके लिए धार्मिक आदेशों का शुष्क रूप ही श्रेष्ठ कला का नियन्ता तथा माप-दंड बन जाता है। ये कला-समीक्षक किसी सुन्दर तथा सुगठित मूर्ति का नग्न सौन्दर्य सहन नहीं कर सकते न उस कला-सत्य का अनुभव कर सकते हैं जो उस नग्नता से प्रस्फुटित हो रहा है। इनमें कल्पना का इतना अभाव होता है कि कलाओं की भावव्यंजना उनके लिए कोई अर्थ ही नहीं रखती। वे केवल उनके बाह्य रूप को ही अपने रूढ़िबद्ध आचार-विचारों की कसौटी में कसते हैं। काव्य में आकर ये कला-समीक्षक 'सत्य बोलो,' 'अपरिग्रह का पालन

करो' आदि सिद्धान्त-वाक्यों को ही पढ़कर सन्तोष प्राप्त कर लेते हैं, पर दुःख तो यह है कि उनकी इस अनोखी रुचि की तृप्ति करनेवाला कोई भी व्यक्ति-विशेष अपने को कवि अथवा कलाकार के आसन पर प्रतिष्ठित नहीं कर सका।

मनोविज्ञान की दृष्टि से भी इस विषय का विशद विवेचन किया गया है और हम देखते हैं कि यूरोप में इसके फलस्वरूप दो परस्पर विपरीत कला-संप्रदाय उत्पन्न हो गए हैं। इनका कार्यक्रम एक दूसरे के विरुद्ध प्रचार करना ही रहा है। प्रसिद्ध मनोविज्ञान-शास्त्री फ्रूड के मत में कला के मूल में मनुष्य की वे भावनाएँ और इच्छाएँ हैं जिन्हें वह समाज के नियमों के कारण अथवा अन्य प्रतिबन्धों के कारण वास्तविक जीवन में चरितार्थ नहीं कर सकता। काव्य और कला के कल्पना-जगत् में वह उन्हें चरितार्थ करता है। साहित्य आदि में शृङ्गार रस की प्रचुरता को वे इसका प्रमाण बतलाते हैं। इसके विरुद्ध मतावलंबियों ने भी एक नवीन सिद्धान्त की आयोजना की है और वह यह है कि सत्य की प्रेरणा मनुष्य मात्र के अंतःकरण की एक स्वाभाविक वृत्ति है। मनुष्य मात्र सदाचार, सद्धर्म, सुप्रवृत्ति आदि से तृप्त होता है और उनके विपरीत गुणों से उसे घृणा होती है। मनुष्य की मानसिक तृषा-शान्ति के लिए उसे सद्वृत्तियों की आवश्यकता अनिवार्य रूप से होती है। अतः यदि कलाएँ मनुष्य के अंतःकरण की सच्ची प्रतिबिंब हैं तो अवश्य ही वे सत्य की ओर प्रवृत्त होंगी।

इस अन्तिम विचार के अनुसार कलाओं में लोकहित आदि के 'शिवत्व' की प्रतिष्ठा आप से ही आप हो जाती है। परन्तु कला समीक्षकों को यह मूल तत्व विस्मरण न होना चाहिए कि प्रत्येक काव्य का अथवा कला-कृति का निर्माता व्यक्ति-विशेष होता है। फिर उसके शिवत्व का स्वरूप भी उसी के विकास के अनुकूल होगा। और उस शिवत्व को अपनी कलावस्तु में स्थापित करने के लिए उसे कला के उपर्युक्त सौन्दर्य और सत्य का भी विचार रखना पड़ता है। वह ऐसा नहीं कर सकता कि लोकहित का ध्यान करके उपदेशों का पहाड़ निर्माण करने लगे और कला के वास्तविक सौन्दर्य तथा उसके असाधारण प्रभाव का मूलतत्व ही बिसार दे।

अंग्रेजी साहित्य में जब से मैथ्यू आर्नल्ड का 'साहित्य जीवन की व्याख्या

है' सिद्धान्त प्रचलित हुआ तब से कलाओं के लोकपक्ष पर विशेषरूप से आग्रह किया जाने लगा। आर्नल्ड के ही समकालीन कलाशास्त्री वाल्टर पेटर ने सौन्दर्य की झाँकी लेना, सुन्दर को असुन्दर से पृथक करना और उसका रस प्राप्त करना यही कला-समीक्षा का क्षेत्र बतला कर मानो आर्नल्ड के लोक-पक्ष की बराबरी पर अपना सौन्दर्यपक्ष उपस्थित किया था। इन दोनों पक्षों में कोई तात्त्विक विरोध नहीं है, इसका प्रमाण तो इतने ही से लग जाता है कि आर्नल्ड और पेटर दोनों ही उत्कृष्ट समीक्षकों ने समान रीति से कवियों के काव्य की आलोचना की और वे प्रायः एक ही निष्कर्ष पर पहुँचे। परन्तु यूरोप में ये दोनों ही पक्ष हठवादिता के केन्द्र भी बना लिये गए, जिसके कारण वास्तविक साहित्यालोचन अवरुद्ध हो गया। एक ओर 'कला के लिए कला' का प्रचार करनेवाले पंडितों ने शास्त्रार्थ आरंभ किया और दूसरी ओर टाल्सटाय जैसे क्रान्तिकारी व्यक्ति ने मानो साहित्य के क्षेत्र में भी क्रान्ति करने के आशय से धर्म-मिश्रित कलावाद की सृष्टि की। आज भी इंगलैंड में प्रोफ़ेसर क्विलर कोच, क्लाइव बेल जैसे विद्वान् साहित्यशास्त्री 'कला के लिए कला' को सिद्ध कर रहे हैं और उनके विरोध में मिस्टर आई० ए० रिचर्डस् आदि अपने उपयोगितावादी, आचारवादी पक्ष को प्रकट करने में संलग्न हैं।

इन अनेकानेक विवादों से यदि कुछ तथ्य निकाला जा सकता है तो यही कि प्रत्येक कलाकार अपनी रुचि अथवा शक्ति के अनुसार सत् तथा असत की धारणाएँ रखता है, जिन्हें वह अपनी कलाकृति में प्रकट करना चाहे तो प्रकट कर सकता है। पर इसके लिए वह बाध्य नहीं है। प्रत्येक युग विचारों के प्रसार और जीवन-समस्याओं के स्पष्टीकरण का है, किन्तु सब युग ऐसे ही नहीं रहे। आधुनिक काल की समस्याएँ आगे चिरदिन तक बनी रहेंगी अथवा उनका अन्तिम समाधान उसी रूप में होगा जिस रूप में आज हुआ है, यह कोई नहीं कह सकता। आज यदि बर्नार्ड शा के नाटकों में विलायती जीवन की समस्याओं का निरूपण और समाधान किया जा रहा है तो काव्य की यही एक आशय नहीं माना जा सकता। फिर कला की दृष्टि से आधुनिक कला कुछ विशेष उन्नत भी नहीं मानी जा सकती। यह तो निश्चय है कि प्रत्येक कलाकृति के निर्माण का कुछ रहस्य होता है। पर केवल सौन्दर्य से मुग्ध

होकर अथवा आनन्दपूर्ण एक झलक पाकर भी काव्य-रचना की जा सकती है, और की गई है। वह सौन्दर्य अथवा वह आनन्द की झलक उस कला में आकर स्वयं लोकहित बन जाती है और काव्य के लिए यही मूल लोकहित है। काव्य तथा कलाओं के संख्याहीन रूपों को देखते हुए और उनके प्रभाव को समझते हुए किसी रूढ़िबद्ध, नियमित लोकहित को हम काव्य या कला का अंग नहीं मान सकते। हाँ कलाओं का लोकपक्ष हमें स्वीकार है और हम यह मानते हैं कि संसार के अधिकांश श्रेष्ठ कलाकार धार्मिक और उच्च प्रकृति के महापुरुष हो गये हैं।

व्यावहारिक विभाग

अध्ययन की सुविधा के लिए काव्य के कुछ मुख्य-मुख्य विभाग कर लिए जाते हैं जो केवल व्यावहारिक विचार से स्वीकार किए जाने चाहिए। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि कोई एक विभाग किसी दूसरे की अपेक्षा मौलिक रूप से प्रधान है अथवा उसकी महत्ता अधिक है। कलात्मक सत्य को प्रकट करने के लिए काव्य की अनेक शैलियाँ बना ली गई हैं। अपने-अपने स्थान पर सब का समान महत्व है। जब मानव मन किसी रागमयी कल्पना से उद्वेलित होकर अभिव्यक्त हो उठता है तब वह अभिव्यक्ति प्रायः गीत रूप में होती है। यह स्वाभाविक प्रक्रिया सर्वत्र देखी गई है। जब उक्त उद्वेलन चित्त की किसी महान् तथा स्थायी प्रेरणा से उत्पन्न होता है अथवा बाह्य संसार की कोई उदात्त घटना इसका कारण होती है तब महाकाव्य का उद्गम होता है। जब कल्पना का पुट हलका होता है और मनुष्य वास्तविक जगत् के किसी व्यक्ति विशेष या घटना विशेष से आकर्षित होकर उसका वर्णन करता है तो गद्य काव्य, इतिहास आदि ग्रंथों का प्रणयन हो जाता है। जब जीवन के किसी लघु अंश को ही चमत्कृत रूप में चित्रित करने की उत्कण्ठा होती है तब आख्यायिका अथवा खंडकाव्य की सृष्टि की जाती है। इन विभागों के भी अनेकानेक उपविभाग कर लिए गए हैं। फिर मनुष्य के अंतःकरण की कौन सी वृत्ति प्रधान बन कर काव्य के किस रूप में व्यक्त होती है यह हिसाब भी लगाया गया है। परन्तु हमको यह स्पष्ट कह देना चाहिए कि इस प्रकार के मानसिक अथवा काव्य-सम्बन्धी विभाग तथा उनके पारस्परिक तारतम्य व्याव-

ह्वारिक और काल्पनिक ही हैं। इन्हें केवल साधारण सुविधा तथा परिचयात्मक बोध करने के विचार से स्वीकार किया जा सकता है। इस प्रकार के श्रेणी-विभाग से कभी-कभी विशेष क्षति भी पहुँचती है, जिससे सचेत रहना सर्वथा हितकर होगा। अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध कवि वर्डसवर्थ को एक बार अपनी कविताओं को मानसिक वृत्तियों के आधार पर विभाजित करने की झक चढ़ी थी। उसने Fancy, Sentiment, Reflection, आदि मन के कई कटघरे बनाकर उसमें कविता-कोकिल को पालना आरम्भ किया था। पर लोगों के समझाने से उसका वह प्रयास दूर हो गया, नहीं तो बहुत संभव था कि वह इसके फेर में पड़कर अपनी नैसर्गिक काव्य-प्रतिभा को खो बैठता।

ग्रीस के जगत्-प्रसिद्ध दार्शनिक और विचक्षण तत्त्ववेत्ता अरस्तू ने काव्य के कितने ही उपविभाग किए थे जो पश्चिम में अब तक व्यापक रीति से मान्य हो रहे हैं। हमारे देश में तो श्रेणी-विभाजन तथा वर्गीकरण की धुन-सी ही सवार रही है। यहाँ जिस सूक्ष्मता से विभाग किए गए हैं वे विशेष रूप से प्रशंसनीय कहे जा सकते हैं। परन्तु यह कह देना आवश्यक होगा कि ये विभाग तात्त्विक आधार पर स्थित नहीं हैं। हमें यह भी प्रकट कर देना चाहिए कि इन विभागों की संख्या जितनी ही अधिक बढ़ाई जायगी उतने ही अधिक वे कृत्रिम होते जायँगे। क्योंकि सत्य तो यह है कि कला मात्र की भाँति काव्य की भी अभिव्यक्ति अखंड तथा अविभाज्य है।

गद्यात्मक काव्य और कविता-मय गद्य का नाम हम प्रायः सुना ही करते हैं। बाणभट्ट की कादम्बरी गद्य में है; पर वह अत्यधिक कवित्वपूर्ण है। इसी प्रकार बहुत-सी रचनाएँ पद्य में की गई हैं जो गद्य में की जातीं तो अधिक चमत्कार उत्पन्न करतीं। बहुत से रूपक अभिनय के लिए लिखे जाते हैं और बिना अभिनय के उनका आनन्द ही नहीं प्राप्त होता; पर बहुत से ऐसे भी रूपक हैं जो पढ़ने-पढ़ाने के ही काम में आते हैं और जिनका अभिनय किया ही नहीं जा सकता। इतिहास के कुछ ग्रंथकार केवल घटनाओं का उल्लेख करके विश्राम लेते हैं; परंतु कुछ उसे सरसतर काव्य का रूप प्रदान करने में सुख मानते हैं। काव्य का जगत् ही ऐसा है जहां कल्पना भी सत्य बन जाती है और सत्य कल्पना का रूप धारण कर लेता है। कौन कह सकता है कि

मन के कितने तत्व जगत् के कितने तत्वों से किन-किन रूपों में संश्लिष्ट हो रहे हैं। प्रत्येक देश का दर्शन उसके काव्य को एक अनोखा ही रूप देने में समर्थ हुआ है। फिर उस रूप का उपविभाग किस तात्त्विक दृष्टि को मान्य होगा? नारी की असंख्य मूर्तियां अगणित मूर्तिकारों ने अंकित की हैं, क्या वे सब प्रकार से एक दूसरे के अनुरूप हैं? क्या सब की सामग्री अलग-अलग नहीं? क्या सब की रुचि में भेद नहीं; संस्कार, विकास सब भिन्न नहीं? जब हम किसी दूसरी भाषा की पुस्तक का अनुवाद भी अपनी भाषा में करते हैं तब भी उसे अपनी भाषा की प्रकृति के अनुकूल बना लेते हैं। कोई भी दो वस्तुएं एक नहीं हो सकतीं। फिर काव्य-साहित्य के भेदोपभेद करके उसके संबंध में इदमित्थं कहने का साहस कौन कर सकता है?

---

(२)

कला का उद्गम, आनंद और प्रकार

लेखक—डा० हेमचन्द्र जोशी तथा पं० इलाचन्द्र जोशी

साहित्य का रस

असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत। तदात्मानं स्वयमकुरुत। तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत इति। यद्वै तत् सुकृतम्। रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति। को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात्। यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्
—तैत्तिरीय उपनिषद्,—७ अनु० ७

अथर्ववेद में एक श्लोक है, जिसका भावार्थ यह है कि उच्छिष्ट-मात्र से आनंद का स्वरूप विकसित होता है, अर्थात् मनुष्य की जब रात दिन की आवश्यकताएँ पूरी हो जाती हैं, तब उन आवश्यकताओं के परे मनुष्य का जो ज्ञान उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होता है, उसी उच्छिष्ट ज्ञान के आधार पर आनन्द प्रतिफलित होता है। कला का मूल यही आनन्द है। अब प्रश्न यह उठता है कि आनन्द है क्या चीज़? आनन्द है दिव्य ज्योति। ज्योति है स्वयं प्रकाश। जब उत्ताप साधारण अवस्था में होता है, तब वह रचनादि प्रयोजनीय

कार्यों में उपयोजित होता है। पर जब वह प्रयोजनीयता से आगे बढ़ जाता है, तब अपने को प्रकाशित करना चाहता है, और ज्योति के रूप में प्रकाशित होता है। होली जलाने में हमें इतना आनन्द क्यों आता है? कारण, उसमें अग्नि का आत्म-प्रकाश हमें दिखलाई देता है, यद्यपि उससे हमारा कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। ब्रह्मानन्द इसी आनन्द के विकास की चरम परिणति है। इस विपुल विश्व की सृष्टि के मूल में कोई प्रयोजन नहीं है। उस अनादि, अव्यक्त पुरुष के अभ्यन्तरीण आनन्द का प्याला जब लबालब भर गया, उसके उच्छिष्ट अंश को जब भीतर बन्द रहने का स्थान नहीं मिला, तो उसने अपने को व्यक्त करना चाहा। शून्य में लटकमान यह अनन्त जगत् इसी अतिरिक्त आनन्द की रचना है। कला भी नये-नये भाव तथा रसों का सृजन करती है। यह रस-सृष्टि आत्म-प्रकाश से ही उत्पन्न होती है। आत्म-प्रकाश का लक्ष्य ही प्रयोजनातीत आनन्द है। लोहा प्रयोजन में बद्ध है, इसलिये वह आत्म-प्रकाश की शक्ति नहीं रखता। पर रेडियम के भीतर उसकी सत्ता की आवश्यकता से इतने अधिक 'इलेक्ट्रन' (वैद्युतिक परमाणु) रहते हैं कि वे अपने को तीव्र ज्योति-सम्पन्न रंजन-रश्मियों में प्रकाशित करते हैं। आनन्द तथा आत्म-प्रकाश का मूल सूत्र यहीं पर है। कला का आरंभ भी यहीं से होता है।

मानवात्मा नाना प्रकार के सुख-दुःखों और अनेक आवर्त्तन-विवर्त्तनों के बीच से होकर अपने को प्रकाशित करती है। आत्म-प्रकाश में ही उसके जीवन की सार्थकता है। इसलिए जानकार या अनजान में वह इसी धुन में लगी रहती है कि कैसे अपने को व्यक्त करें। महाकाल की अवधि में, महाकाश के रंगमंच पर, जीवन के प्रकाश से मृत्यु की विकराल यवनिका के भीतर, अनेक घूर्णित चक्रों के घात-प्रति-घात में, दृष्ट होनेवाले मानवात्मा के आत्म-प्रकाश का उपदेश भारतीय कला के आचार्यों ने शिव के तांडव-नृत्य में दर्शाया है। शंभु के इस विकट नर्तन में पाप और पुण्य, दुःख और सुख, आत्मानंद द्वारा प्रेरित होकर, बिना किसी कारण के, प्रवाहित होते रहते हैं। इस नर्तन का चक्र प्रतिक्षण जारी रहता है। कवि लोग इसी नर्तन की घूर्णि से अपने काव्यों के लिए मसाला इकट्ठा करते हैं। रामायण में राम-प्रमुख भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के चरित्र का स्वाभाविक विकास अपूर्व रूप से चित्रित

हुआ है। इस विकास के भीतर ही हमें उन चरित्रों के आत्म-प्रकाश का परिचय मिलता है। महाभारत का भी यही हाल है। पर कला केवल व्यक्ति के आत्म-प्रकाश में ही आबद्ध नहीं है। मानवात्मा के भीतर स्थित नाना प्रकार की सुकुमार वृत्तियाँ तथा नाना प्रकार के सूक्ष्म भाव, रेडियम के वैद्युतिक कणों की तरह, अपने को प्रकाशित करने के लिए प्रतिक्षण उन्मुख रहते हैं। ईथर में अव्यक्त रूप से प्रवाहित होनेवाले इन भावों को बाँधकर पकड़ने के लिए संगीत-कला तथा गीत-काव्य की सृष्टि हुई है। इन्हीं कलाओं के भीतर से वे भाव आत्म-प्रकाश करते हैं। मेघदूत में इसी प्रकार के ईथरीय भाव प्रकाशित हुए हैं। भैरवी, आसावरी, सारंग, इमन-कल्यान, विहाग आदि राग-रागनियों में इन्हीं भावों का अपूर्व कम्पन हृदय को विकल कर देता है।

स्वान्तःसुख

तुलसी के रामचरित-मानस में काव्य और संगीत का अपूर्व संयोग है। संगीत केवल राग-रागिनी के भीतर ही आबद्ध नहीं है। उसकी व्याकुलता किसी भी ढाँचे में ढाली जा सकती है। उनके इस काव्य में मानव-चरित्र के व्यक्तिगत विकास के साथ ही साथ, पानी के ऊपर तेल की तरह, भक्ति-रस का स्रोत अलग से बहता जाता है। भक्ति की यह व्याकुलता ही संगीत है। तुलसीदास की यह अभिनव रचना उनके हृदयस्थित आनन्द का ही उद्गार है। उन्होंने यह ग्रंथ 'स्वान्तःसुखाय' ही लिखा है। यही कारण है कि हम आज विज्ञ और अनभिज्ञ सभी व्यक्तियों पर समभाव से उसका प्रभाव देख पाते हैं। यदि यह रचना आनन्दोत्थित न होकर लोगों में भक्ति के 'प्रचार' के भाव से लिखी गई होती, तो हम इसका यह आदर कदापि न देख पाते। जिस प्रकार शून्य में मुक्त रूप से बिखरे हुए भगवान् के अखण्ड आनन्द को इस सृष्टि का प्रत्येक जीव, अपनी बुद्धि तथा सामर्थ्य के अनुसार, ग्रहण करके मस्त रहता है उसी प्रकार तुलसीदास के हृदय से उच्छ्वसित आनन्द के रस से भरे हुए इस काव्य को प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी भावना के अनुसार अपनाता है। कोई किसी से यह पूछने की आवश्यकता नहीं समझता कि यह ग्रन्थ क्यों अच्छा है। कारण यह कि आनन्द का स्वरूप अज्ञ से अज्ञ व्यक्ति भी, अपनी बुद्धि के अनुसार, बिना संशय के, ग्रहण कर लेता है। पर शुद्ध ज्ञान की रचना

को कुछ चुने हुए विरले आदमी ही समझ पाते हैं, और उन्हें भी उसमें विशेष रस नहीं मिलता। आनन्द की सृष्टि और प्रयोजनीयता की रचना में यही अन्तर है।

समस्त सृष्टि में आत्म-प्रकाश की प्रवृत्ति इतने सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप से वर्तमान है कि देखकर आश्चर्य होता है। आधुनिक विज्ञान ने यह सिद्ध करके दिखा दिया है कि सृष्टि के प्रत्येक परमाणु के भीतर सौर चक्र वर्तमान है। जिस प्रकार हमारे इस वृहत सूर्य की परिक्रमा अष्टग्रह किया करते हैं, और उन ग्रहों की परिक्रमा उपग्रह करते हैं, उसी प्रकार यही नियम सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणु तक पाया जाता है। यह सृष्टि के भीतर आत्मप्रकाश की उद्दाम प्रवृत्ति का नमूना है। केवल सत्ता ही नहीं, सत्ता के पीछे जो अव्यक्त चेतना वर्तमान है, वह भी अनेक रूपों में प्रतिपल अपने को प्रकाशित कर रही है। इसी चेतना के प्रभाव से विश्व का प्रत्येक कण प्रतिक्षण घूर्णित होता रहता है। यह घूर्णी आनन्द के विश्वव्यापी संगीत पर ताल देती रहती है। मनुष्य इसी चेतना द्वारा प्रेरित होकर सृष्टि के संगीत को अपनी भाषा में व्यक्त करना चाहता है। इस संगीत का आनन्द ही भारतीय कला का प्राण है।

नीति-निरपेक्षता

त्रैगुण्य विषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ;

× × ×

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ! (गीता)

कला का मूल उत्स आनन्द है। आनन्द प्रयोजनातीत है। सुन्दर फूल देखने से हमें आनन्द प्राप्त होता है ; पर उससे हमारा कोई स्वार्थ या प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। प्रभात की उज्ज्वलता और संध्या की स्निग्धता देखकर चित्त को एक अपूर्व शांति प्राप्त होती है पर उससे हमें कोई शिक्षा नहीं मिलती, और न कोई सांसारिक लाभ ही होता है। कारण, आनन्द समस्त लौकिक सिद्धि तथा व्यवहार से अतीत है। उसमें कोई बहस नहीं चल सकती। हमें आनन्द क्यों मिलता है, इसका कोई कारण नहीं बताया जा सकता। वह केवल अनुभव ही किया जा सकता है। "ज्यों गूँगे मीठे फल को रस

अंतर्गत ही आवै।" आनन्द का भाव वाणी और मन की पहुँच के बिल्कुल अतीत है। "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।" पर नीति का सम्बन्ध मन के साथ है। मन बिना आलोचना के आनन्द के सहज भाव को ग्रहण नहीं करना चाहता। वह पोथी पढ़-पढ़कर 'पंडिताई' में मस्त रहता है। सहज प्रेम तथा आनन्द के 'एकै अच्छर' से उसकी तृप्ति नहीं होती। वह कविता पढ़कर इस बात की खोज में लग जाता है कि इसमें अर्थनीति, राजनीति, राष्ट्रतत्व, भूतत्व, जीवतत्व अथवा और कोई तत्व है या नहीं। वह यह नहीं समझना चाहता कि इस कविता में आनन्द का जो अमिश्रित रस है, उसके सामने किसी भी तत्व का कोई मूल्य नहीं। पर जो लोग इस दुष्ट समालोचक मन का दमन करने में समर्थ होते हैं वे कला के 'आनन्दरूपममृतम्' का अनुभव कर लेते हैं। उपनिषदों में हमारे भीतर पाँच पृथक-पृथक कोषों का अवस्थान बतलाया गया है। अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष और आनन्दमय कोष। अन्नमय कोष के संस्थान के लिए हमें अर्थनीति की आवश्यकता होती है। प्राणमय कोष की पुष्टि के लिए धर्मनीति की, मनोमय कोष के लिए कामनीति की, और विज्ञानमय कोष के लिए वैज्ञानिक नीति की। पर जब इन सब कोषों की स्थिति पार करके मनुष्य आनन्दमय कोष के द्वार खट-खटाता है, तो वहाँ सब प्रकार की नीति तथा नियमों के गट्ठर को फेंककर भीतर प्रवेश करना पड़ता है। वहाँ बुद्धि का काम नहीं, वहाँ आनन्दमयी इच्छा का राज्य है। वहाँ यदि नीति किसी उपाय से घुस भी गई, तो उसे इच्छा के शासन में वेष बदलकर दुबके हुए बैठना पड़ता है। लौकिक तथा प्राकृतिक बंधनों की अवज्ञा करनेवाली इस सर्वजयी इच्छा महारानी के आनन्दमय दरबार में नैतिक शासन का काम नहीं है। वहाँ सहज प्रेम का कारबार है। वहाँ इस प्रेम के बन्धन में बँधकर पाप और पुण्य भाई-भाई की तरह एक दूसरे के गले मिलते हैं।

नीति? इस विपुल सृष्टि के मूल में क्या नीति है? क्या प्रयोजन है? क्या तत्त्व है? अहन्यहनि असंख्य प्राणी विनाश को प्राप्त हो रहे हैं, असंख्य प्राणी उत्पन्न होते जाते हैं। उत्पन्न होकर फिर अपने स्नेह-प्रेम, सुख-दुख,

हँसी-रुलाई का चक्र पूरा करके अनन्त में विलीन हो रहे हैं। इस समस्त चक्र का अर्थ ही क्या है? अर्थ कुछ भी नहीं। यह केवल भगवान् के सहज आनन्द की लीलामय रचना है।

विश्व की इस अनन्त सृष्टि की तरह कला भी आनन्द का ही प्रकाश है। उसके भीतर नीति, तत्त्व अथवा शिक्षा का स्थान नहीं। उसके अलौकिक मायाचक्र से हमारे हृदय की तन्त्री आनन्द की झंकार से बज उठती है, यही हमारे लिए परम लाभ है। उच्च अंग की कला के भीतर किसी तत्त्व की खोज करना सौंदर्यदेवी के मन्दिर को कलुषित करना है।

रामायण के मूल आदर्श के भीतर हमको कौन-सा नैतिक तत्त्व प्राप्त होता है? कुछ भी नहीं। उसके भीतर केवल राम की विपुल प्रतिभा की स्वाधीन इच्छा का लीलामय चक्र, विस्तृत रूप से, अत्यन्त सुन्दरता के साथ, चित्रित हुआ है। रामायण निस्सन्देह बृहद् ग्रंथ है, और उसके विस्तृत क्षेत्र में सहस्रों प्रकार के नैतिक उपदेश स्थान-स्थान पर ढूँढ़ने से मिल सकते हैं। पर इस प्रकार खंड-खंड रूप से इस महाकाव्य को विभक्त करने से उसकी अखंड, वास्तविक तथा मूल सत्ता का नाश हो जाता है। यदि उसकी वास्तविक श्रेष्ठता का कारण हमें मालूम करना है, तो हमें उसकी समग्रता पर ध्यान देना होगा। उसके मूल आदर्श पर विचार करना पड़ेगा। रामायण से यदि हमें केवल यही तत्त्व पाकर संतोष करना पड़े कि उसमें पितृ-भक्ति, भ्रातृ-स्नेह तथा पातिव्रत्य का उपदेश दिया गया है तो यह महाकाव्य अपनी आनन्दोत्पादिनी महत्ता को खोकर एक अत्यन्त क्षुद्र नीति-ग्रन्थ में परिणत हो जाता है। ऐसे उपदेश हमें सहस्रों साधारण नैतिक श्लोकों तथा प्रवचनों से रात-दिन मिलते रहते हैं। तब इस काव्य में विशेषता क्या है? इसकी कथा सहस्रों वर्षों से जनता के हृदय में अखंड रूप से क्यों विराजती आई है? कारण यही है। अनादि पुरुष की "एकोऽहं बहुस्याम्" की इच्छा की तरह प्रतिभा भी सृजन का कार्य करती है। जिस प्रकार सृष्टिकर्त्ता के उपदेश का रहस्य कुछ न जानने पर भी हमें उसकी ईश्वरी माया के खेल में आनन्द आता है, उसी प्रकार प्रतिभा की स्वाधीन इच्छामयी उद्दाम प्रवृत्ति की सर्जना का अभिनव विलास देखकर, उसका मूल आदर्श न समझने पर भी, हमें

सुख प्राप्त होता है। राम की प्रतिभा अपूर्व तथा सुविस्तृत थी। राम एकदम बन-गमन के लिए क्यों तत्पर हो गये? पिता की आज्ञा का पालन करने के लिए उन्होंने ऐसा नहीं किया। वह पिता की इच्छा भली भाँति जानते थे। वह जानते थे, पिता उन्हें बन भेजना नहीं चाहते और यथाशक्ति उन्हें उनके ऐसा करने से रोकेंगे। पर प्रतिभा किसी भी बात पर सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप से विचार करके बाल की खाल निकालना नहीं चाहती। इसी लिए लोग उसका इतना सम्मान करते हैं। वह एक झलक में समस्त स्थिति को समझकर अपना कर्त्तव्य निर्धारण कर लेती है। अंग्रेज़ी में जिसे Exalted state of mind कहते हैं, राम की मानसिक स्थिति सर्वदा, सब समय वैसी ही रहती थी। उनकी प्रतिभा की विपुलता अपने आप में आबद्ध न होकर, प्रतिक्षण नानारूपों में, नाना क्षेत्रों में, अपने को विस्तारित करने के लिए उन्मुख रहा करती थी। उसकी गति प्रतिक्षण वर्तमान को भेदकर सुदूर भविष्य की ओर प्रवाहित होती रहती थी। स्वामी, स्त्री, पिता-पुत्र तथा भाई-भाई के बीच तुच्छ स्वार्थ की छीना-झपटी की अत्यन्त हास्यकर तथा नीच प्रवृत्ति के प्राबल्य तथा विस्तृति की आशङ्का करके उन्होंने अत्यन्त प्रसन्नता तथा वज्र-कठिन दृढ़ता के साथ महत्‌त्याग स्वीकार किया और अपने गृह में घनीभूत स्वार्थ के भाव को, त्याग-करुणा-विगलित रस से बहाकर, साफ़ कर दिया। उन्होंने पिता का प्रण निभाया, इस बात पर हमें उतनी श्रद्धा नहीं होती, जितनी इस बात पर विचार करने से कि उन्होंने इस स्वार्थ-मग्न संसार के प्रतिदिन के व्यवहार की यवनिका भेदकर सुदूर अनन्त की ओर अपनी प्रतिभा की सुतीक्ष्ण दृष्टि प्रेरित की। उनकी इस इच्छा-शक्ति के वेग की प्रबलता के कारण ही हमें इतना आनन्द प्राप्त होता है, और हृदय बारम्बार संभ्रम तथा श्रद्धा के साथ उनके पैरों तले पतित होना चाहता है।

यदि कोरी नीति के आधार पर ही समस्त कार्यों का निर्धारण करना हो, तो राम का बन-गमन अनीति-मूलक भी कहा जा सकता है। उनके बन-गमन से उनकी प्रजा को चौदह वर्ष तक कितना कष्ट उठाना पड़ा, इसका उल्लेख रामायण में हो है। उनके पिता की मृत्यु का कारण भी यही था। भरत को सुख-भोग की जगह तपस्या करनी पड़ी। यह सब परिणाम समझकर

ही राम वन गए थे। वन में उन्हें जाबालि मुनि मिले थे। जाबालि ने उनके वनवास को व्यर्थ साधन बतलाया। उन्होंने कहा कि तुम्हारी इस साधना की कुछ भी उपयोगिता नहीं। तुम समझते हो कि पिता का प्रण निभाकर मैंने महत् कार्य किया है; पर यदि वास्तव में देखा जाय तो कौन किस का पिता है, कौन किस का भाई? जब तक जीवित रहना है, तब तक मौज करते चले जाओ, इस भस्मीभूत देह का पुनरागमन कहाँ है? मरने के बाद कौन पिता है, कौन पुत्र! केवल दुर्बल भावुकता के कारण ही तुमने वन-गमन स्वीकार किया है, और मोहान्धता के कारण इस त्याग को तुम श्रेष्ठ आदर्श समझ बैठे हो। यदि केवल नीति के ही पीछे लगा जाय, तो जाबालि की यह उक्ति वास्तव में यथार्थ जान पड़ती है। परलोक को कौन जानता है, इसी जीवन में प्रत्यक्ष में जो निश्चित लाभ होता है, चाणक्य की "यो ध्रुवाणि परित्यज्य" की नीति के अनुसार वही श्रेष्ठ है और "आत्मानं सततं रक्षेत दारैरपि" वाली उक्ति सभी जानते हैं। अपना स्वार्थ ही, कोरी नीति की दृष्टि से, सब से बड़ी बात है। पर हम पहिले ही कह आए हैं कि प्रबल प्रतिभा का संप्लवन (over flow) नैतिक तथा नैयायिक उक्तियों को ग्रहण नहीं करता। अकारण ही अपने को प्लावित करने में उसे आनन्द मिलता है। राम जानते थे कि उनके वनवास की कोई सार्थकता नहीं है; पर उनकी प्रतिभा ने यही दिखलाना चाहा कि उनकी आत्मा अनंत की विपुलता में पागल है, और अपने क्षुद्र परिवेष्टन के भीतर बन्द नहीं रहना चाहती। आत्म-प्रकाश का आनन्द इसे ही कहते हैं। यदि नैतिक उपयोगिता का विचार करके उन्होंने वनगमन किया होता, तो वह घटना आज मानव हृदय को करुणा से इतना द्रवीभूत न करती। कवि के तीव्र आत्मानुभव तथा उसकी कल्पना की वास्तविकता का परिचय हमें यहीं पर मिलता है।

यदि नीति की छोटी-मोटी बातों पर ध्यान देना आवश्यक होता, तो हम आज महाभारत के समान विपुल काव्य से वंचित रहते। उसे बात-बात पर सफ़ाई देनी होती कि द्रौपदी के पाँच पति क्यों थे? वेदव्यास जैसे महात्मा का जन्म घृणित व्यभिचार से क्यों हुआ? धृतराष्ट्र और पांडु क्षेत्रज पुत्र होने पर भी महाशाली क्यों हुए? कुन्ती कौमार्यावस्था में ही गर्भवती होने पर भी पांडवों की सर्व-जन-प्रशंसिता माता क्यों हुई? (सूर्य की दुहाई देना

वृथा है, विवेचक पाठक जानते हैं कि सूर्य के समान किसी तेजस्वी पुरुष के औरस से ही कर्ण का जन्म हुआ था—सूर्य रूपक-मात्र है) इत्यादि असंख्य ऐसे ही उदाहरण दिये जा सकते हैं। पर महाभारतकार की क़लम लेश-मात्र भी इन कारणों से नहीं हिचकी। कारण स्पष्ट है। कवि यही दिखलाना चाहता है कि इन तुच्छ नैतिक उल्लंघनों से उनके महत् आदर्श पर किंचिन्मात्र भी आँच नहीं आ सकती।

कालिदास का मेघदूत क्या नीति सिखाता है? विरह-जन्य आनन्द की इस रचना का लक्ष्य यदि नीति की ओर होता, तो वह असह्य हो उठती। अलकापुरी के जिस आनन्दमय देश की ओर कवि हमें आकर्षित करके ले चलता है, उसके सम्बन्ध में हमारे मन में यह प्रश्न बिलकुल ही नहीं उठता कि वहाँ जाकर क्या होगा? किसी नैतिक लाभ के लिए हम अलकापुरी को नहीं जाते, हम जाते हैं आनन्द की विपुलता अनुभव करने के लिए। वहाँ जिस आनन्द का हम अनुभव करते हैं, वह तुच्छ सुख-दुःख, क्षुधा-तृष्णा तथा पाप-पुण्य से अतीत है।

पाश्चात्य प्रमाण

केवल हमारे ही देश में नहीं, पाश्चात्य देशों में भी बहुत से लोग नीति के उपासक हैं। ग्येटे की रचनाओं में नीति की अवहेलना देखकर कई लोग उन पर बरस पड़े हैं। शेक्सपियर के नाटकों में से कई समालोचक अपने इच्छानुसार नीति निकालने में व्यस्त रहते हैं। प्रकृति के सच्चे उपासक, प्रसिद्ध फ्रांसीसी चित्रकार मिले (Millet) की कला के बहुत से आलोचकों ने उसकी राजनीतिक व्याख्या करने की चेष्टा की थी। वह बात इस प्रकृति के चतुर चितेरे को बहुत बुरी लगी। प्रसिद्ध क्रांतिकारी प्रूधों (Proudhon) ने उन्हें चित्रों के ज़रिये राजनीतिक प्रश्न हल करने के लिए उसकाया, पर वे इस अयुक्त प्रस्ताव पर सम्मत नहीं हुए। इससे यह न समझना चाहिए कि वे देशद्रोही थे। राजनीति से देशप्रेम का कोई सम्बन्ध नहीं। सहज प्रेम के साथ नीति का क्या सम्बन्ध हो सकता है? मिले स्वयं कृषक के पुत्र थे, और किसानों के प्रति उनकी इतनी सहानुभूति थी कि उनके प्रायः सभी चित्रों से कृषक-जीवन की सरलता का सुमधुर परिचय मिलता है। उनके चित्रों की

उरलता से मानवात्मा की यातनाओं का आभास अत्यन्त सुन्दर रूप से आँखों में झलकता है, और हृदय में किसानों के प्रति आन्तरिक सहानुभूति उमड़ पड़ती है। पर उनका उद्देश्य किसानों की दुर्दशा का चित्र खींचकर तत्कालिक साम्यवाद की राजनीतिक महत्ता 'प्रचार' करने का नहीं था। यही कारण है कि उनके चित्रों ने अमरत्व प्राप्त कर लिया है।

महाकवि ग्येटे को जर्मनी के कई समालोचकों ने इस बात के लिए कोसा था कि वे सदा राजनीति से विमुख रहे हैं। इस पर उन्होंने लूडन से कहा था—"जर्मनी मुझे प्राणों से प्यारी है। मुझे बहुधा इस बात पर दुःख होता है कि जर्मन लोग व्यक्तिगत रूप से इतने उन्नत होने पर भी समष्टि के विचार से इतने ओछे हैं। अन्य जाति के लोगों के साथ जर्मन लोगों की तुलना करने से हृदय में व्यथा का भाव उत्पन्न होता है, और इस भाव को मैं किसी भी उपाय से भूलना चाहता हूँ। कला और विज्ञान में मैं इस व्यथाजनक भाव से त्राण पाता हूँ, क्योंकि उनका सम्बन्ध समस्त विश्व से है और उनके आगे राष्ट्रीयता की सीमा तिरोहित हो जाती है।" पाठकों को मालूम होगा कि कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ का भी यही मत है। ग्येटे ने किसी अन्य स्थान पर कहा है—"सत्य की इस सरल उक्ति पर लोग विश्वास नहीं करना चाहते कि कला का एक-मात्र उन्नत ध्येय उच्च-भाव का प्रतिबिंबित करना है।" इंगलैंड के प्रसिद्ध साहित्यालोचक कार्लाइल जब एक बार बर्लिन गए थे, तो किसी भेंट के अवसर पर कुछ लोगों ने ग्येटे पर यह दोष लगाना आरंभ किया कि इतने बड़े प्रतिभाशाली कवि होने पर भी उन्होंने धर्म-सम्बन्धी बातों की अवहेलना की है। कार्लाइल ने उनकी संकीर्णता से क्रुद्ध कर कहा—Meine Herren, did you never hear the story of that man who vilified the Sun because it would not light his cigar ?" यह मुँहतोड़ जवाब सुनकर किसी के मुँह से एक शब्द न निकला।

सभी जानते हैं कि रूसो नीति के कितने पक्षपाती थे। पर जब वह कला की रचना करने बैठते थे, तब नीति-वीति सब भूल जाते थे। उनके प्रसिद्ध उपन्यास *La Nouvelle Heloise* में उनके हृदय की क्षुब्ध

वेदना प्रतिबिम्बित हुई है। उनके इस आत्म-प्रकाश की मनोहरता के कारण ही यह ग्रन्थ इतना आदरणीय है। सच्चा कलावित् हृदय की प्रेरणा से ही चित्र खींचता है, न कि बाह्य आवश्यकता के अनुसार।

टालस्टाय को नीति की छोटी-छोटी बातों का भी बड़ा खयाल रहता था। यहाँ तक कि अपनी 'What is Art?' शीर्षक पुस्तक में उन्होंने अनीति-मूलक ग्रंथों की तीव्र निन्दा करके यह मत प्रतिष्ठित किया है कि कला के भीतर नीति का होना परमावश्यक है। उन्होंने जिस समय यह मत प्रचारित किया था, उस समय उन्होंने यह भी लिखा था कि मेरी इस समय से पहले की रचनाएँ दोषपूर्ण समझी जानी चाहिएँ। पर उनका सर्व-श्रेष्ठ उपन्यास *Anna Karenin* इसके बाद लिखा गया था। इसके प्रकाशित होने पर लोगों को यह आशंका हुई थी कि उसमें नीति भरी पड़ी होगी। पर उनकी यह आशंका निर्मूल निकली। टालस्टाय सच्चे कलावित् तथा शिल्पी थे। उनका व्यक्तिगत मत चाहे कुछ भी हो, पर उनकी आत्मा में कवि-स्वभाव का राज्य होने के कारण कला की रचना में वह नीति की संकीर्णता घुसेड़कर कला के आदर्श को खर्च नहीं कर सकते थे।* *Anna Karenin* में Kitty (किटी) के गार्हस्थ्य जीवन की शांत, सुखमय छवि अवश्य हृदय को आराम पहुँचाती है, पर अभागिनी अन्ना के संघर्षण-

---

*टालस्टाय कट्टर नीतिवादी थे,- उनके प्रबन्धों में इसकी ही महिमा गाई गई है; लेकिन वे कला-प्राण थे, इसलिए उनके उपन्यासों और कहानियों में अज्ञात-रूप से यह क्षुद्र नीति लुप्त हो गई। उनके दुर्नीति-विरोध के बारे में वे ही कलामय शब्द कहे जा सकते हैं, जो उन्होंने चेकाव की कहानी 'डार्लिंग' के बारे में कहे हैं—

"He intended to curse, but the god of Poesy forbade it him and commanded him to bless; and he blessed, and unwillingly he arrayed in such a wonderful light that darling creature, that she will for ever remain the model of what a woman can be * * * The story is so beautiful just because it came forth unconsciously.

(Tchekhov by Koteliansky, P. 48.)

क्लिष्ट 'दुर्नीति-मूलक' जीवन के प्रति प्रत्येक पाठक की आंतरिक समवेदना उमड़ी पड़ती है। और तो क्या, स्वयं ग्रंथकार ने, अपनी इच्छा के प्रतिकूल, अनजान में, अंत तक अन्ना के जीवन की 'ट्रेजेडी' के प्रति अपनी सहानुभूति प्रदर्शित की है। आरंभ में ग्रन्थकार का जाहिरा मकसद किटी के गार्हस्थ्य तथा नीति-अनुमोदित जीवन की स्निग्धता और अन्ना के जटिल तथा नीति-विरुद्ध जीवन के बीच भेद (Contrast) प्रदर्शित करके एक निश्चित नैतिक सिद्धांत प्रतिष्ठित करने का रहा है। पर थोड़ी ही दूर जाकर, दुःखिनी अन्ना के उन्नत चरित्र की जटिलता का विचार करके, उसका यह उद्देश्य शिथिल हो जाता है, और अन्त को जाकर मानव-चरित्र की अन्तर्गत दुर्बलता की समस्या का कोई समाधान ही कवि नहीं करने पाया है। कहाँ वह कठिन नीतिज्ञ का निष्ठुर दंड लेकर 'दुर्नीत' को शासित करने चला था, कहाँ शासित व्यक्ति के साथ मानवत्व के समान सूत्र में ग्रथित होकर उसे भी रोना पड़ा है। सच्चे कलाविद् की श्रेष्ठता का प्रमाण इसी से मिलता है। वह अपने प्राण की प्रेरणा से चरित्र चित्रित करता है, और अपने प्राण ही में वह उन चरित्रों की यातनाओं का अनुभव करता है। धर्मध्वजी लेखक की तरह, अपने चरित्रों से अपने को बिलकुल अलग समझ कर, वह शासक नहीं बनना चाहता।

जहाँ किसी नीति को प्रतिष्ठित करना ही लेखक का मूल उद्देश्य रहता है, वहाँ वह संकीर्णता का प्रचार करता है; पर जहाँ सत्य, सौंदर्य तथा मंगल से पूर्ण स्वाभाविक छवि चित्रित करके ही चित्रकार अपना काम पूरा हुआ समझता है, वहाँ उस आदर्शमय चित्र की स्वाभाविक सरलता हृदय को उन्नत बनाने में सहायक होती है।

---

(३)

साहित्य और जीवन का संबंध

ले०—पण्डित नन्ददुलारे वाजपेयी

हमारी हिन्दी में और अन्यत्र भी इन दिनों साहित्य और जीवन में घनिष्ठ संबंध स्थापित करने की जोरदार माँग बढ़ रही है। आज परिस्थिति

ऐसी प्रवेगपूर्ण है कि इस माँग की खूब कद्र की जा रही और खूब दाद दी जा रही है। स्कूलों और कालेजों के विद्यार्थी बड़ी उमंग के साथ इस विषय के व्याख्यान सुनते और ताली बजाते हैं। लेखकगण घर के बाहर स्वदेशी निवास में रहने में प्रतिष्ठा पाते हैं और समालोचकगण उत्कर्षपूर्ण साहित्यकार की अपेक्षा जेल का चक्कर लगा आने वाले सैनिक साहित्यिक के बड़े गुण गान करते हैं। पत्र पत्रिकाओं में जोशीले लेख छपते हैं जो जीवन और साहित्य को एकाकार करने के एक कदम और आगे बढ़कर लेखों को लेखकों के खून से सराबोर देखना चाहते हैं। एक प्रकार का उन्माद उत्पन्न किया जाता है जो साहित्य-समीक्षा को जड़ से उखाड़ फेंकने का सरंजाम करेगा और जीवन को नितांत उग्र और, संभव है, पाषंडपूर्ण भी बना देगा। बंगाल में ऐसे ही विचारप्रवाह के कारण, महाकवि रवींद्रनाथ को, कियत्काल के लिये हो सही, धक्का उठाना पड़ा है और आज हिन्दी में भी वही हवा चल रही है। हम जिस संकीर्ण वात्याचक्र में घिरे हुए साँस ले रहे हैं उसमें यदि साहित्य को राजनीतिक प्रोपेगण्डा का साधन बनाया जाय तो यह स्वाभाविक है। ऐसा अन्य देशों में भी होता रहा है। पर इसे ही साहित्यिक समीक्षा की स्थिर कसौटी बनाने और इसी के अनुसार उपाधि-वितरण करने का हम समर्थन नहीं करते। साहित्य और जीवन का संबंध देखने के लिए क्षणिक राष्ट्रीय आवश्यकताओं की परिधि से ऊपर उठने की आवश्यकता है। हम साहित्य के आकाश में क्षितिज के पास के रक्तिम वर्ण ही को न देखें, सम्पूर्ण सौरमंडल और उसके अपार विस्तार, अगणित रंग-रूप के भी दर्शन करें। साहित्य की शब्दावली में हम क्षणिक यथार्थ को ग्रहण करने में लगकर वास्तविक यथार्थ का तिरस्कार न करें जो विविध आदर्शों से सुसज्जित है। हम साहित्य और जीवन का सम्बन्ध अत्यन्त व्यापक अर्थ में मानें। देश और काल की सुविधा के ही मोह में न पड़ें।

साहित्य के साथ जीवन का संबंध स्थापित करने का आग्रह यूरोप में पिछली बार फ्रेंच राज्य-क्रांति के उपरांत किया गया और हमारे देश में, आधुनिक रूप में, यह अभी कल की वस्तु है। इँगलैंड में वर्ड्सवर्थ और फ्रांस में विक्टर ह्यूगो आदि साहित्यकार इस विचार-शैली के आविर्भाव करनेवालों

में से है। प्रारंभ में इसका रूप अत्यंत समीचीन था। यूरोप का मध्यकालीन जीवन अस्तंगत हो गया था। उसके स्थान में नवीन जीवन का उदय हुआ था, जिसके मूल में बड़ी ही सरल और सात्विक भावनाएँ थीं। नवीन जीवन के उपयुक्त ही नवीन समाज का विकास हुआ और इसी विकास के अनुकूल साहित्य में भी प्रकृति-प्रेम, सरल जीवन आदि की भावनाएँ देख पड़ीं। यहाँ तक कृत्रिमता किंचित् नहीं थी। अङ्गरेजी साहित्य में मेथ्यू आर्नल्ड और वाल्टर पेटर जैसे दो समीक्षक—एक जीवन-पक्ष पर स्थिर होकर और दूसरा कला अथवा सौंदर्य पक्ष पर मुग्ध होकर—समान रीति से कवियों की प्रशंसा कर सकते थे। परन्तु बहुत दिन ऐसे नहीं रह सके। शीघ्र ही यूरोप में राष्ट्रीयता और प्रादेशिक भावनाओं का विस्तार हुआ और रूस में समाज-संबंधी शक्ति-शालिनी उत्क्रान्ति हुई। रूसी साहित्य को वहाँ के समाज-वाद की सेवा में उपस्थित होना पड़ा, जिसके कारण उसकी स्वतंत्रता बनी न रह सकी। साहित्य अधिकांश में राष्ट्र के सामाजिक और राजनीतिक संघटनों का प्रयोग-साधन बन गया। नवीन युग की नवीन वस्तु के रूप में उसको बाज़ार अच्छा मिला और आज उसका सिक्का यूरोप ही नहीं भारत में भी धड़ाके से चल रहा है। परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि इस रूप में साहित्य परतंत्र सामयिक जीवन की बँधी हुई लीक में चलने को बाध्य किया गया है। साहित्य और जीवन का स्वभाव-सिद्ध संबंध सर्वथा मंगलमय है; पर क्या इस प्रकार का संबंध स्वभावसिद्ध कहा जा सकता है? जीवन की स्वच्छंद धारा ही जहाँ बँधी हुई है वहाँ साहित्य तो शिकंजे में जकड़ा ही रहेगा। आज साहित्य और जीवन का संबंध जोड़ने के बहाने साहित्य को मिथ्या यथार्थ की जिस अँधेरी गली में ले चलने का उपक्रम किया जाता है, हम उसकी निन्दा करते हैं।

साहित्य और जीवन का संबंध जोड़ने के सिलसिले में समीक्षकों ने साहित्यकार के व्यक्तिगत बाह्य जीवन से भी परिचित होने की परिपाटी निकाली। यातायात के सुलभ साधनों के रहते, सम्मिलन के सभी सुभीते थे। बस साहित्य-कार को भी पब्लिकमैन बना दिया गया। साहित्यालोचन की जो पुस्तकें निकलीं उनमें यह आग्रह किया गया कि साहित्यकार की व्यक्तिगत जीवनी का परिचय प्राप्त किए बिना उसके मस्तिष्क और कला का विकास समझ में नहीं आ

सकता। ऐतिहासिक अनुसन्धानों के इस युग में यदि कवियों और लेखकों का अन्वेषण किया गया तो कुछ अनुचित नहीं। इस प्रणाली से बहुत से लाभ भी हुए। मस्तिष्क और कला के विकास का पता चला। बहुत से पाषंडी प्रकाश में आए। परन्तु जीवन इतना रहस्यमय और अज्ञेय है और परिस्थितियाँ इतनी बहुमुखी हैं कि इस सम्बन्ध में अधिक से अधिक सूक्ष्म-दृष्टि की आवश्यकता है, नहीं तो एक कलकतिया सम्पादकजी की तरह 'सैनिक' और 'साहित्यिक' तथा 'आनन्दभवन' और 'शांतिनिकेतन' के बीच में ही अटक रहने का भय है। 'सैनिक' होने से ही कोई साहित्य-समीक्षक की सराहना का अधिकारी नहीं बन सकता; क्योंकि 'सैनिक' बनने का पुरस्कार उसे जनता के साधुवाद अथवा व्यवस्था-सभा के सभासद आदि के रूप में प्राप्त हो चुका है। साहित्यिक दृष्टि से 'सैनिकत्व' का स्वतः कोई महत्त्व नहीं। 'सैनिकत्व'—इस शब्द का जो अन्तरङ्ग है, साहित्य के भीतर से सैनिक की आत्मा का जो प्रकाश है, वह हमारी स्तुति का विषय बनना चाहिए। साहित्य और जीवन का यह सम्बन्ध है जिसको हम साहित्य-समीक्षा की एक स्थायी कसौटी बना सकते हैं, पर हिन्दी में लोग ऐसा नहीं करते। इसका हमें दुःख है। अँग्रेज़ी साहित्य-समीक्षा में वह व्यक्तिगत चरित-चित्रण की परिपाटी काफ़ी समय तक चली, पर हाल में इसका प्रयोग कम पड़ रहा है और शायद इसका त्याग किया जा रहा है। जीवन की जटिल अज्ञेयता से परिचित हो जाने पर साधारण असूक्ष्म-दृष्टि आलोचक इस मार्मिक प्रणाली का त्याग कर दें, यह अच्छा ही है, नहीं तो साहित्य में बड़ा विषम भाव और बड़ा विद्वेष फैलने की आशंका है।

साहित्यकार को जीवन के सम्बन्ध में स्वतंत्र विचार रखने और भिन्न-भिन्न साहित्य-सरणियों में चलने के अधिक से अधिक अधिकार मिलने चाहिए। उसके अध्ययन, उसकी परिस्थिति और उसके विकास को हम सामयिक आवश्यकताओं और उस सम्बन्ध की अपनी धारणाओं से नहीं परख सकते। हमें उनकी दृष्टि से देखना और उसकी अनुभूतियों से सहानुभूति रखना सीखना होगा। हम कवियों और लेखकों के नैतिक और चरित्र-सम्बन्धी स्खलन ही न देखें, प्रचलित सामाजिक अथवा राजनीतिक कार्यक्रम से उनकी तटस्थता

की ही निन्दा न करें, यदि वास्तव में उन्होंने अपनी साहित्य-सृष्टि द्वारा नवीन शैली, नवीन सौन्दर्य-कल्पना और भव्य भाव-जगत् की रचना की है। महाकवि रवींद्रनाथ ठाकुर के महर्षित्व पर नवयुवक बङ्गालियों ने विकट-विकट आक्षेप किए हैं और वर्तमान राजनीति में सक्रिय भाग न लेने के कारण उनके विरुद्ध कठोर व्यंग्यों की भी झड़ी लगी है, पर क्या साहित्यिकसमीक्षा की अब ये ही प्रणालियाँ रह जायेंगी? जिस देश के दर्शन-शास्त्र गोचर क्रिया को विशेष महत्त्व नहीं देते और चेतन-शक्ति पर विश्वास करते हैं, उसमें महाकवि रवींद्रनाथ को इससे अच्छा पुरस्कार मिलना चाहिए। रवि बाबू स्वदेश-प्रेम को सम्पूर्ण मनुष्यता और विश्व-प्रेम के धरातल पर उठाकर रखने में समर्थ हुए हैं, उन्होंने स्वदेश की प्रादेशिक सीमा के जड़त्व का नाश किया है—अपनी उदार अनुभूतियों और अपनी विराट् कल्पना की सहायता से उन्होंने संसार की शांति और साम्य के लिए एक व्यापक आदर्श की सृष्टि की है जिसकी सम्भावनाएँ भविष्य में अपार हैं। इसके लिये यदि हम उनके कृतज्ञ नहीं होते और यह जरूरी समझते हैं कि वे जनता के नेता का रूप धारण करें तो यह हमारी ही संकीर्ण भावना है जो हमें प्रकृति की अनेकरूपता को समझने नहीं देती।

साहित्य और जीवन में घनिष्ठ से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित होने पर भी दोनों में अंतर रहेगा ही। जीवन तो एक धारा-प्रवाह है, साहित्य में उसकी प्राणदायिनी और रमणीय बूँदें एकत्र की जाती हैं। जीवन के अनंत आकाश में साहित्य के विविध नक्षत्र आलोक वितरण करते हैं। सामयिक जीवन तो अनेक नियमित-अनियमित, ज्ञात-अज्ञात घटनावली का समष्टि रूप है, साहित्य में कुछ नियम भी अपेक्षित हैं। यह अवश्य है कि हम जिस हवा में साँस लेते हैं, प्रत्येक क्षण उसके परमाणु हममें प्रवेश पाते हैं, तथापि हमारा साहित्य केवल उन परमाणुओं का संग्रह होकर ही नहीं रह सकता। प्रत्येक सभ्य और प्रतिभाशाली मनुष्य वर्तमान में रहता हुआ अतीत और भविष्य में भी रहता है। साहित्यकार के लिये तो ऐसा और भी स्वाभाविक है। महान् कलाकार तो देश और काल की सीमा भंग करने में ही सुख मानते हैं और सार्वभौम समाज के प्रतिनिधि बनकर रहते हैं। सामयिक जीवन का

उनके लिये उतना ही महत्त्व है जितना वह उनके विराट्, सर्वकालीन यथार्थ जीवन की कल्पना में सहायक बन सकता है। निश्चय ही यह महान् कलाकारों की बात कही जा रही है।

साहित्यकला की कुछ ऐसी सुन्दु, प्रभावशाली और सुन्दर विशेषताएँ हैं जो जीवन के स्थूल यथार्थ से मेल नहीं खातीं। साहित्य में 'राम' और 'कृष्ण' चिर-सुन्दर अंकित किए गये हैं, कलाओं में उनके चित्र भी वैसे ही मिलते हैं, पर जीवन में तो वे वैसे नहीं रहे होंगे। साहित्य की अतिशयोक्तियाँ, इन्द्र-धनुष-सी, जीवन के स्थूल; अकाल्पनिक, रूखे अस्तित्व को मनोरम बना देती हैं। साहित्य में मनुष्य का जीवन ही नहीं, जीवन की वे कामनाएँ जो अनंत जीवन में भी पूरी नहीं हो सकतीं, निहित रहती हैं। जीवन यदि मनुष्यता की अभिव्यक्ति है तो साहित्य में उस अभिव्यक्ति की आशा-उत्कंठा भी सम्मिलित है। जीवन यदि सम्पूर्णता से रहित है तो साहित्य उसके सहित है। तभी तो उसका नाम साहित्य है। तभी तो साहित्य जीवन से अधिक महत्त्वपूर्ण बन गया है।

---

(४)

कविता और 'शृङ्गार'

ले०—पं० पद्मसिंह शर्मा 'साहित्याचार्य'

बहुत से महापुरुष कविता की उपयोगिता का स्वीकार तो किसी प्रकार करते हैं, पर शृङ्गार-रस उनके निर्मल नेत्रों में कुछ खार सा या तेज़ तेज़ाब सा खटकता है, वह शृङ्गार की रसीली लता को विषैली समझ कर कविता-वाटिक से एकदम जड़ से उखाड़ फेंकने पर तुले खड़े हैं, उनकी शुभ सम्मति में शृङ्गार ही सब अनर्थों की जड़ है, शृंगार रस के 'अश्लील' काव्यों ने ही संसार में अनाचार और दुराचार का प्रचार किया है, शृंगार के साहित्य का संसार से यदि आज संहार कर दिया जाय तो सदाचार का संचार सर्वत्र अनायास हो जाय, फिर संसार के सदाचारी और ब्रह्मचारी बनने में कुछ भी देर न लगे।

कई महानुभाव तो भारतवर्ष की इस वर्तमान अधोगति के 'श्रेय का सेहरा' भी शृंगार के सिर पर ही बाँधते हैं ! उनकी समझ में शृंगार-रस ही की मूसलाधार अति-वृष्टि ने देश को डुबोकर रसातल पहुँचाया है ।

ठीक है, अपनी-अपनी समझ ही तो है, इस विचार के लोग भी तो हैं जो कहते हैं कि वेदांत के विचार—उपनिषदों में वर्णित अध्यात्म भावों के प्रचार ने ही देश को अकर्मण्य, पुंसत्व-विहीन और जाति को हीन-दीन बनाकर वर्त्तमान दशा में पहुँचाया है ! फिर वर्त्तमान शिक्षा-प्रणाली के विरोधियों की भी कुछ कमी नहीं है, वह इस शिक्षा को ही सब अनर्थों की जननी जानकर धिक्कार रहे हैं । यदि यह पिछले मत ठीक हैं, तो पहला भी ठीक हो सकता है । जब अन्तिम रस (शान्त) संसार की अशान्ति का कारण हो सकता है तो आदिम (शृङ्गार) भी अनर्थ का मूल सही । पर तनिक ध्यान देकर देखा जाय तो अपनी अपनी जगह सब ठीक हैं—

"गुल हाय रँगा रंग से है ज़ीन ते चमन ।
ऐ 'ज़ौक' इस जहाँ को है ज़ेब इख्तलाफ़ से ।।"

पदार्थ-वैचित्र्य के साथ रुचि-वैचित्र्य भी सदा से है और सदा रहेगा । यह विवाद कुछ आज का नहीं, बहुत पुराना है । पहले यहाँ शृङ्गार-रस-प्राधान्य-वादियों का एक पक्ष था, उसका मत था कि शृङ्गार ही एक रस है ; वीर, अद्भुत आदि में रस की प्रसिद्धि गतानुगतिकता की अन्धपरम्परा से यों ही हो गयी है । इस मत के समर्थन में सुप्रसिद्ध भोजदेव ने "शृङ्गार-प्रकाश" नामक ग्रन्थ लिखा था, जिसका उल्लेख विद्याधर ने अपनी "एकावली" के रस प्रकरण में इस प्रकार किया है—

"राजा तु शृङ्गारमेकमेव" 'शृङ्गारप्रकाशे'
रसमुररीचकार

यथा—"वीराद्भुतादिषु च येह रसप्रसिद्धिः
सिद्धाकुतोऽपि वटयक्षवदाविभाति ।
लोके गतानुगतिकत्व वशादुपेता—
मेतां निवर्तयितुमेष परिश्रमो नः ।।

शृङ्गार-वीर-करुणाद्भुत-हास्य-रौद्र—
बीभत्स-वत्सल-भयानक-शान्तनाम्नः ।
आम्नासिषुर्दश रसान् सुधियो वयन्तु
शृङ्गारमेव रसनाद्रसमामनामः ॥"

+ + +

इसी प्रकार एक दूसरा पक्ष था, जो शृङ्गार को एकदम अव्यवहार्य समझता था, वह केवल शृङ्गार का ही नहीं, शृङ्गार-वर्णन के कारण काव्य-रचना ही का विरोधी था। उसकी आज्ञा थी—

"असभ्यार्थाभिधायित्वान्नोपदेष्टव्यं काव्यम् ।"

+ + +

अर्थात् असभ्य-अश्लील अर्थ का प्रतिपादक होने के कारण काव्य का उपदेश, काव्यरचना, नहीं करना चाहिए।

इसके उत्तर में काव्य-मीमांसा के आचार्य कविकुलशेखर 'राजशेखर' कहते हैं कि—

"प्रक्रमापन्नो निबन्धनीय एवायमर्थः ।"

+ + +

अर्थात् क्रम-प्राप्त ऐसे विषय-विशेष का वर्णन अपरिहार्य है, वह होना ही चाहिए, वह काव्य का एक अङ्ग है, प्रकरण में पड़ी बात कैसे छोड़ी जा सकती है! जो बात जैसी है कवि उसका वैसा वर्णन करने के लिये विवश है। शृङ्गार की सामग्री तत्सम्बन्धी नाना प्रकार के दृश्य जब जगत् में प्रचुर परिमाण में सर्वत्र प्रस्तुत हैं, तब कवि उनकी ओर से आँखें कैसे बन्द कर लें! तद्विषयक वर्णन क्यों न करें? फिर कवि ही ऐसा करते हों, केवल वही इस 'असभ्याभिधान' अपराध के अपराधी हों, यह बात भी तो नहीं, राजशेखर कहते हैं—

"तदिदं श्रुतौ शास्त्रे चोपलभ्यते"

+ + +

इस प्रकार का वर्णन—जिसे तुम असभ्य और अश्लील कहते हो, श्रुतियों में और शास्त्रों में भी तो पाया जाता है।

इसके आगे कुछ श्रुतियाँ और शास्त्रवचन उद्धृत करके राजशेखर ने अपने उक्त मत की पुष्टि की है। उनके उद्धृत वचनों के आगे कवियों के "अश्लील" वर्णन भी लज्जा से मुँह छिपाते हैं।

वास्तव में देखा जाय तो कवियों पर असभ्यता या अश्लीलता के प्रचार का दोषारोपण करना उनके साथ अन्याय करना है। कवियों ने अश्लीलता को स्वयं दोष मानकर उससे बचे रहने का उपदेश दिया है, काव्य-दोषों में अश्लीलता एक मुख्य दोष माना गया है, फिर कवि अश्लीलता का उपदेश देने के लिये काव्य-रचना करें, यह कैसे माना जा सकता है!

शृङ्गार-रस के काव्यों में परकीया आदि का प्रसंग कुरुचि का उत्पादक होने से नितान्त निन्दनीय कहा जाता है। यह किसी अंश में ठीक हो सकता है, पर ऐसे वर्णनों से कवि का अभिप्राय समाज को नीतिभ्रष्ट और कुरुचि-सम्पन्न बनाने से नहीं होता, ऐसे प्रसंग पढ़कर धूर्त विटों की गूढ़ लीलाओं के दाँव-घात से परिचय प्राप्त करके सभ्य समाज अपनी रक्षा कर सके, इस विषय में सतर्क रहे, यही ऐसे प्रसंग-वर्णन का प्रयोजन है। काव्यालंकार के निर्माता रुद्रट ने भी यही बात दूसरे ढङ्ग से कही है—

> "नहि कविना परदारा एष्टव्या नापि चोपदेष्टव्या।
> कर्त्तव्यतयान्येषां न च तदुपायोऽभिधातव्यः॥
> किन्तु तदीयं वृत्तं काव्याङ्गतया स केवलं वक्ति।
> आराधयितुं विदुषस्तेन न दोषः कवेरत्र॥"

+ + +

रुचिभेद और अवस्था-भेद से काव्यों के कुछ वर्णन किन्हीं विशेष व्यक्तियों को अनुचित प्रतीत हों, यह और बात है, इससे ऐसे काव्य की अनुपयोगिता सिद्ध नहीं होती, अधिकार भेदी की व्यवस्था सब जगह समान है, काव्य-शास्त्र भी इसका अपवाद नहीं है; कौन कहता है कि वृद्ध जिज्ञासु, बाल-ब्रह्मचारी, मुमुक्षु यति और जीवन्मुक्त संन्यासी भी काव्य के ऐसे प्रसङ्गों को अवश्य पढ़ें। ऐसे पुरुष काव्य के अधिकारी नहीं हैं। फिर यह भी कोई बात नहीं है कि जो चीज़ इनके लिये अच्छी नहीं है वह औरों के लिये भी

अच्छी न हो, इनकी रुचि को सब की रुचि का आदर्श मानकर संसार का काम कैसे चल सकता है !

काव्यों के विषय की आप लाख निन्दा कीजिये, अश्लील और गन्दे बतलाकर उनके विरुद्ध कितना ही आन्दोलन कीजिये, पर जब तक चटपटी भाषा का चटखारा सहृदय समाज से नहीं छूटता—जिसका छूटना असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य है, सहृदयता के साथ इसका बड़ा गहरा अटूट सम्बन्ध है—तब तक काव्यों का प्रचार रुक नहीं सकता; बड़े-बड़े सुरुचि-संचारक और प्रचारकों और धार्मिक उपदेशकों तक को देखा गया है कि श्रोताओं पर अपनी वक्तृता का रंग जमाने के लिये उन्हें भी काव्यों की लच्छेदार भाषा और सुन्दर सूक्तियों, अनोखी अन्योक्तियों का बीच-बीच में सहारा लेना ही पड़ता है, अच्छी भाषा पढ़ने सुनने का लोगों का 'दुर्व्यसन' भी हमारे सुधारकों के काव्य-विरोध-विषयक प्रयत्नों को अधिकांश में निष्फल कर देता है। ईश्वर करे यह 'दुर्व्यसन' बना रहे।

यह समझना एक भारी भ्रम है कि काव्यों के पढ़नेवाले अवश्य ही कुरुचि-सम्पन्न लोग होते हैं, शृङ्गार रस की चाशनी चखने की स्वाभाविक रुचि ही काव्यों की ओर पाठकों को नहीं खींचती, भाषा के माधुर्य की चाट भी कुछ कम नहीं होती !

चाहे अपने मत से इसे देश का 'दुर्भाग्य' ही समझिए कि हमारे कवियों ने प्रकाश के देवता से अन्धकार का काम क्यों लिया, ऐसी सुन्दर भाषा का 'दुरुपयोग' ऐसे 'भ्रष्ट' विषय के वर्णन में क्यों कर गये ? पर जो कर गये सो कर गये, जो हो गया सो हो गया, वह समय ही कुछ ऐसा था, समाज की रुचि ही कुछ वैसी थी, और अब दुबारा ऐसे कवि यहाँ पैदा होने से रहे जो वर्त्तमान सभ्य समाज की सुरुचि के अनुसार सामयिक विषयों का ऐसी ललित, मधुर, परिष्कृत और फड़कती हुई, जानदार भावमयी भाषा में वर्णन करके मुर्दादिलों में जान डाल जायँ, सोते हुओं को जगा जायँ और जागतों को किसी काम में लगा जायँ ! हमारी भाषा की बहार बीत गयी, अब कभी खत्म न होनेवाली 'खिज़ां' के दिन हैं, भाषा के रसिक भौंरे कान देकर सुनें और आँख खोलकर देखें, कोई पुकार कर कह रहा है—

"जिन दिन देखे वे कुसुम गयी सु बीति बहार।
अब अलि ! रही गुलाब की अपत कटीली डार ॥"

जिस भावहीन निर्जीव भाषा में नीरस कर्णकटु काव्यों की आज दिन सृष्टि हो रही है, इससे सुरुचि का संचार हो चुका ! यह सहृदय समाज के हृदयों में घर कर चुकी ! यह सूखी टहनी साहित्य-क्षेत्र में बहुत दिन खड़ी न रह सकेगी। कोरे कामचलाऊपन के साथ भाषा में सरसता और टिकाऊपन भी अभीष्ट है तो इसके निस्सार शरीर में प्राचीन साहित्य के रस का संचार होना अत्यावश्यक है। विषय की दृष्टि से न सही भाषा के महत्त्व की दृष्टि से भी देखिए तो शृङ्गार रस के प्राचीन काव्यों की उपयोगिता कुछ कम नहीं है, यदि अपनी भाषा को अलंकृत करना है तो इस पुरानी काव्यवाटिका से जिसे हज़ारों चतुर मालियों ने सैकड़ों वर्ष तक दिल के खून से सींचा है, सदा बहार फूल चुनने ही पड़ेंगे। काँटों के डर से रसिक भौंरा पुष्पों का प्रेम नहीं छोड़ बैठता; मकरन्द के लिये मधुमक्षिकाओं को इस चमन में आना ही होगा, यदि वह इधर से मुँह मोड़कर 'सुरुचि' के ख्याल में स्वच्छ आकाश-पुष्पों की तलाश में भटकेंगी तो मधु की एक बूँद से भी भेंट न हो सकेगी। हमारे सुशिक्षित समाज की 'सुरुचि' जब भाषा-विज्ञान के लिये उसी प्रकार का विदेशी साहित्य पढ़ने की आज्ञा खुशी से दे देती है तो मालूम नहीं अपने ही साहित्य से उसे ऐसा द्वेष क्यों है ? परमात्मा इस 'सुरुचि' से साहित्य की रक्षा करे—

"घर से बैर अपर से नाता। ऐसी बहू मत देहु विधाता॥"

बिहारी की कविता शृङ्गारमयी कविता है, यद्यपि इसमें नीति, भक्ति, वैराग्य आदि के दोहों का भी सर्वथा अभाव नहीं है, इस रंग में भी बिहारी ने जो कुछ कहा है, वह परिमाण में थोड़ा होने पर भी भाव-गाम्भीर्य, लोकोत्तर चमत्कार आदि गुणों में सब से बढ़ा चढ़ा है ; ऐसे वर्णनों को पढ़ सुनकर बड़े बड़े नीति-धुरन्धर, भक्तशिरोमणि और वीतराग महात्मा तक झूमते देखे गये हैं, फिर भी बिहारी की सतसई का मुख्य विषय शृङ्गार ही है, उसमें दूसरे रसों की चाशनी "मज़ा मुँह का बदलने के लिये" है। जिस प्रकार संस्कृत काव्य 'अमरुक-शतक' और 'शृङ्गार-तिलक' पर कुछ भगवद्भक्त टीकाकारों ने

भक्ति और वैराग्य की तिलक-छाप लगाकर उन्हें अपने मत की दीक्षा दे डाली है, इसी प्रकार किसी-किसी प्रखरबुद्धि टीकाकार ने बिहारी की सतसई पर भी अपना रंग जमाने की चेष्टा की है; किसी ने उसमें से वैद्यक के नुसखे निकालने का प्रयत्न किया है, किसी ने गहरे अध्यात्म भावों की उद्भावना की है ! अस्तु, बिहारी-सतसई जैसी कुछ है, सहृदय कविता-मर्मज्ञों के सामने है। वह न आध्यात्मिक भावों के रूप में परिणत हो सकती है, न सामयिकता के साँचे में ही ढाली जा सकती है। वह तो शृङ्गार-मूर्त्तिमती ही मानी जायगी। तथापि उसकी चमत्कृति और मनोहरता में कमी नहीं हुई, इसका प्रमाण इससे अधिक और क्या होगा कि समय ने समाज की रुचि बदल दी; पर वर्त्तमान समय के सुरुचि-सम्पन्न कविताप्रेमियों का अनुराग उस पर आज भी वैसा ही बना है; पहले पुराने ख्याल के 'खूसट' उस पर जैसे लट्टू थे आज नयी रोशनी के परवाने भी वैसे ही सौ जान से फ़िदा हैं। उसके तीव्र तथा स्थायी आकर्षण का अनुमान इसी से किया जा सकता है कि समय समय पर अनेक कवि विद्वानों ने उस पर पद्य में, गद्य में, संस्कृत और हिन्दी में टीका तिलक किये, पर वह अभी वैसी ही बनी है, उसके जौहर पूरी तरह खुलने में नहीं आते, गहराई की थाह नहीं मिलती। पहली टीकाओं से पाठकों की तृप्ति न हुई, नयी टीकाएँ बनीं, फिर भी चाट बनी है कि और बनें। सतसई और उसके टीकाकारों को लक्ष्य में रखकर ही मानों कवि ने पर्याय से यह कहा है—

"लिखन बैठि जाकी सबिहिं गहि गहि गरब गरूर।
भये न केते जगत के चतुर चितेरे कूर॥"

कोई भी टीकाकार-चितेरा अपने अनुवाद-चित्र द्वारा बिहारी की कविता-कामिनी के अलौकिक लावण्यभरित भाव-सौन्दर्य को यथार्थतया अभिव्यक्त करने में समर्थ नहीं हो सका, सब खाली खाके खींचकर ही रह गये।

इससे बढ़कर शृङ्गार की महिमा और क्या होगी ? पाठक स्वयं विचार कर देख लें।

कल्पना और यथार्थ

ले०—कविवर मैथिलीशरण गुप्त

क्रमविकास के अनुसार उन्नति करता हुआ कवित्व आजकल स्वर्गीय हो उठा है। अपनी लक्ष्य-सिद्धि के लिये वह जो विचित्र चाप चढ़ाने जा रहा है, हमें भी कभी कभी, मेघों के कन्धों पर चढ़ कर, वह अपनी झाँकी दिखा जाता है। उसे उठाने के लिये जिस सूक्ष्मता अथवा विशालता अथवा स्वर्गीयता की आवश्यकता होगी, कहते हैं, कवित्व उसी की साधना में लगा हुआ है। हम हृदय से उसकी सफलता चाहते हैं।

उसका लक्ष्य क्या है? हमें जब वही नहीं दिखाई देता तब उसके लक्ष्य की चर्चा ही क्या?—

सम्मुख चन्द्र-चकोर हैं
सम्मुख मेघ-मयूर,
वह इतना ऊँचा उठा
गया दृष्टि से दूर।

परन्तु सुनते हैं, वह लक्ष्य है—"सुन्दरम्" और केवल "सुन्दरम्।" "सत्यम्" और "शिवम्" उसके पहले की बातें हैं। कवित्व के लिये अलग से उनकी साधना करने की आवश्यकता नहीं, औरों के लिये हो तो हो। फूल में ही तो मूल के रस की परिणति है, फल तो उपलक्ष्य मात्र है।

कला में उपयोगिता के पक्षपातियों से कहा जाता है कि सच्चे सौन्दर्य का विकाश होने पर अशोभन के लिये अवकाश ही नहीं रहता, उसकी अनुभूति से मन में जो आनन्द की उत्पत्ति होती है उसमें विकार कहाँ? अपवाद तो सभी विषयों में पाये जाते हैं; परन्तु फूलों में स्वभावतः सुगन्धि ही होती है, दुर्गन्धि नहीं। ठीक है। परन्तु सब "फूल सूँघ कर" ही नहीं रह सकते और यह भी तो परीक्षित हो जाना चाहिए कि कहीं फूलों में तक्षक नाग तो नहीं छिपा बैठा है। अनन्त सौन्दर्य के आधार श्री राधाकृष्ण की सौन्दर्य-सुमन-राशि में भी जब हमारे प्रमाद से, उसका प्रवेश सम्भव हो गया तब औरों की बात ही क्या!

फूल उठ आनन्द से हे फूल,
निज नवल दल-दोल पर तू झूल,
धन्य मङ्गल— मूल तेरा मूल,
तदपि फल की बात भी मत भूल।
चढ़ सुरों पर तू उन्हीं के योग्य,
किन्तु भव में फल सकल-जन-भोग्य।

कवित्व फिर भी निष्काम है। सम्भवत: वह स्वयं एक सुफल है, इसी से उसे किसी फल की अपेक्षा नहीं। निःसन्देह बड़ी ऊँची भावना है। भगवान से प्रार्थना है कि वह हम लोगों को भी इतना ऊँचा कर दे कि हम भी उसका अनुभव कर सकें। कदाचित् इसी भावना ने कवित्व को स्वर्गीय होने में सहायता दी है। परमार्थ के पीछे उसने स्वार्थ का सर्वथा परित्याग कर दिया है। इसीलिये वह न तो देश से आबद्ध है न काल से। सार्वदेशिक और सार्वकालिक हो गया है। लेखक उसके ऊपर अपने आपको निछावर कर सकता है। परन्तु वह आकाश में है और यह पृथ्वी पर। ऐसी दशा में उसे भक्ति-भाव से प्रणाम करके ही सन्तोष करना पड़ेगा।

कवित्व की यह उदारता अथवा सार्वभौमिकता बड़ी ही प्यारी लगती है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' अपनी ही तो बात है। परन्तु हाय!

व्यर्थ विश्वमैत्री की बात,
आज दीन दुर्बल तुम तात!
यह औदार्य नहीं, उपहास!!
तुम्हें जानते हैं सब दास!!!

जो हो, हमें कवित्व की क्षमता पर विश्वास है। आज भी वह निराकारों को आकार और निर्जीवों को जीवन दान कर रहा है। "सुन्दरम्" की प्राप्ति के लिये वह नये नये पन्थों का, नई-नई गतियों का, अथवा नये-नये छन्दों का आविष्कार कर रहा है। हम तो उसके साधन पर ही मुग्ध हो गये, साध्य न जाने कैसा होगा? परन्तु सुना है कि उसका निर्माण निष्काम है। जो हो, और तो सब ठीक है, परन्तु एक कठिनाई है। वह यह है कि सार्वदेशिक होने पर भी वह एकदेशीय रसिकों के ही उपभोग के योग्य कहा जाता है।

एक बात और है। सोने का पानी चढ़ा देने से ही सब पदार्थ सोने के नहीं हो जाते। कभी-कभी उनकी चमक-दमक असल से भी कुछ अधिक दिखाई देती है। परन्तु

"निघर्षणच्छेदनतापताडनैः"

उनकी परीक्षा कर लेनी चाहिए (लेखक के लिए तो वह अवश्य ही कोई बड़ी बात होगी जो उसकी समझ में नहीं आती।)

उसके रसिकों में भी तो स्वर्गीय भावुकता अथवा मार्मिकता होनी चाहिए। इस संसार में वह दुर्लभ है। एक बाधा के साथ दूसरी चिन्ता लगी हुई है। भव की भावना के अनुसार स्वर्ग भी भिन्न-भिन्न प्रकार के सुने जाते हैं। सौन्दर्य के आदर्श अलग-अलग हैं। अपने घर में ही देखिए न। एक महानुभाव को खद्दर में कुरूपता दिखाई देती है। कला की कुशलता का अभाव तो स्पष्ट ही है। उधर दूसरे महापुरुष को उसमें भूखों का भोजन और रूग्णों का आरोग्य दिखाई देता है। जीवन की सरलता का कहना ही क्या? यदि सौन्दर्य स्वयं एक बड़ा भारी गुण है तो गुण भी स्वयं एक बड़ा भारी सौन्दर्य है। हमारे लिए ये दोनों ही वदान्य और मान्य हैं। एक महाकवि है और दूसरा महात्मा।

इस यन्त्रों के युग में "हाथकते" और "हाथबुने" में सचमुच सौन्दर्य दुर्लभ है। जहाँ है भी वहाँ वह बहुत महँगा पड़ता है। फिर सर्वसाधारण का शौक़ कैसे पूरा हो? शौक़ रहने दीजिए, सर्वसाधारण की क्षुधा-निवृत्ति और लज्जा की रक्षा तो हो जाय। इन यन्त्रों ने ही तो इतनी विषमता फैलाई है। सम्भवतः इसीलिए मनु ने—"महायन्त्र-प्रवर्तनम्"—बड़े यन्त्रों के प्रचार को एक प्रकार का पाप बताया है।

तथापि वह पाप उत्पन्न हो ही गया और संसार में फैल भी गया। यहाँ कलियुग पहले ही से फैला हुआ है। ऐसी दशा में "स्वदेशी" को छोड़कर कौन-सी गति है? परन्तु स्वदेशी से कवित्व की विश्वभावना जो भङ्ग हो जाती है! राम-राम! फिर वही सङ्कीर्णता!

कवित्व ही इसका उपाय सोचेगा। संसार के सम्मिलित स्वर्ग की कल्पना

का भार भी उसी पर छोड़ देना चाहिए। वही हमें विश्व के सौन्दर्य-स्वर्ग का अनुभव करा सकता है। क्योंकि वह हमें लोकोत्तर आनन्द देता रहा है।

परन्तु हम अपना भय प्रकट कर देना उचित समझते हैं। स्वर्ग की वह भावना ऐसी न हो कि संसार अचल हो जाय। विशेषकर जब तक संसार है।

महाभारतीय युद्ध के समय, कुरुक्षेत्र में अर्जुन को जो करुणा और ममता उत्पन्न हुई थी वह भी एक स्वर्ग की भावना थी। ईश्वर न करे कि कभी फिर कोई महाभारत का सा प्रसङ्ग उठ खड़ा हो। परन्तु संसार में उससे भी बड़ा महाभारत हो चुका है। इसलिए ऐसे प्रसङ्ग पर अर्जुन का मोह देखकर, सौन्दर्य-लोभी कवित्व उससे

विषम वेला में तुझको, ओह !
कहाँ से उपजा यह व्यामोह ?

कहने के बदले कहीं स्वयं मोह से ही यह न कह उठे कि—

कहाँ ओ कम्पित पुलकित मोह ?
अरे हट, किन्तु ठहर जा ओह !
देख लूँ क्षण भर तेरा रूप;
सगद्गद रोम रोम रसकूप ?

अर्जुन की वह ममता स्वर्गीय थी तो वह सहृदयता, मार्मिकता अथवा सौन्दर्योपासना भी स्वर्गीय है !

अर्जुन की ममता करुणा, अथवा उदारता स्वर्गीय न होती तो वह कैसे अपने राज्य हरने—और उससे भी अधिक अपनी पत्नी पाञ्चाली का अपमान करने वालों को अयाचित क्षमा प्रदान करने को तैयार हो जाता। उसने तो यहाँ तक कह दिया था कि—

मुझ निरस्त्र को अस्त्र समेत,
मारें धार्तराष्ट्र समवेत।
करूँ न मैं उनका प्रतिकार,
तो मेरा कल्याण अपार !

बौद्धों की क्षमा भी इसी प्रकार की थी। जातकों में हमें ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं कि महानुभावों ने दारापहारी आततायियों को भी क्षमा कर दिया

है। ईश्वरात्मज प्रभु यीशु भी हमें स्वर्ग का सन्देश सुना गये हैं कि यदि कोई तुम्हारे एक गाल पर थप्पड़ मारे तो तुरन्त दूसरा गाल उसके सामने कर दो। परन्तु उनके अनुयायियों ने ही सर्वापेक्षा इसकी उपेक्षा की है। स्वयं भगवान परस्वापहारियों के प्रति अर्जुन के इस भाव को "अस्वर्ग्य" समझते हैं—

न इसमें स्वर्ग न कीर्ति न मान,
अनार्योचित है यह अज्ञान।

दुष्ट और दस्युओं को भगवान कभी क्षमा नहीं कर सकते!

"जो नहिं करौं दण्ड खल तोरा,
भ्रष्ट होइ श्रुति मारग मोरा।"

क्योंकि—

"धर्म संरक्षणार्थैव प्रवृत्तिर्भुवि शार्ङ्गिणः"।

शार्ङ्गधर धर्म की रक्षा के लिये ही धरती पर अवतीर्ण होते हैं। किसी समय वे आयुध न भी धारण करें; परन्तु अपना काम करते रहते हैं। सव्य-साची तो निमित्त मात्र है—

"निमित्तमात्रम् भव सव्यसाचिन्"

सो पाठक, कवित्व भले ही स्वर्गीय होकर स्वर्ग के सौन्दर्य का आनन्द लूटे, परन्तु जब तक यह संसार स्वर्ग नहीं हो जाता तब तक हम सांसारिक ही रहेंगे। चाहते तो हम भी वही हैं पर हमारे चाहने से ही क्या होगा!

नर चेती नहिं होत है,
प्रभु चेती तत्काल।
बलि चाह्यो आकाश को,
हरि पठयो पाताल॥

कौन नहीं जानता कि कलह किंवा युद्ध अतीव अनर्थकारी है। परन्तु जब तक यह जीवन सन्धि के बदले संग्राम बना हुआ है तब तक इसके अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है कि—

"क्षुद्रं हृदय दौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप!"

हमने "अहिंसा परमोधर्मः" धारण करके अपनी दिग्विजय से हाथ

खींच लिये; परन्तु दूसरों ने हम पर आक्रमण करना न छोड़ा। हम किसी की हिंसा नहीं करना चाहते; परन्तु हमारी भी तो कोई हत्या न करे। तथापि हुआ यही, हमारी अतिरिक्त करुणा ने हमें दूसरों के समक्ष दुर्बल बना दिया। हमने हथियार रख कर उठने बैठने का स्थान धीरे से झाड़ देने के लिये एक प्रकार की मृदुल मार्जनी धारण कर ली, जिसमें कोई जीव हमारे नीचे दब न जाय; परन्तु दूसरों ने हथियार न रक्खे और स्वयं हमी दबा लिये गये। हमारी गो-रक्षा की भ्रांति ने विपक्षियों की सेना के सामने गायों को खड़ा देखकर शस्त्र-सन्धान करना स्वीकार न किया; परन्तु इससे न गायों की रक्षा हुई और न हमारी, जो उसके रक्षक थे। विधर्मियों ने गाँव के एकमात्र कुएँ में थूक दिया, बस वह गाँव ही अहिन्दू हो गया!

ऐसी अवस्था में कवित्व हमें क्या उपदेश देगा? उपदेश देना उसका काम नहीं। न सही; परन्तु आपत्ति-काल में मर्यादा का विचार नहीं रहता और क्या सचमुच कवित्व उपदेश नहीं देता?

भोजन का उद्देश क्षुधा-निवृत्ति और शरीर-पोषण है। उससे रसना का आनन्द भी मिलता है। परन्तु हमारी रसना-लोलुपता इतनी बढ़ गई है कि हम भोजन में बहुधा उसी का ध्यान रखते हैं। फल उलटा होता है। शरीर का पोषण न होकर उलटा उसका शोषण होता है। क्योंकि पथ्य प्रायः रुचिकर नहीं होता। शरीर के समान ही मन की भी दशा समझिए। मन महाराज तो पथ्य की ओर दृष्टि भी नहीं डालना चाहते। लाख उपदेश दीजिये, जब तक पथ्य मधुर किंवा रुचिकर नहीं होता तब तक वे उसे छूने के नहीं। कवित्व ही उनके पथ्य को मधुर बना कर परोस सकता है।

काव्य-कुसुम-कलिका देकर ही
कला-केतकी है कृतकार्य,
किन्तु कवित्व-रसाल सुफल की
आशा है तुझसे अनिवार्य।

परन्तु हमारे कवित्व का ध्यान इस समय दूसरी ओर चला गया है। इस संसार को छोड़कर वह स्वर्ग की सीमा में प्रवेश कर रहा है। क्या अच्छा होता कि वह हमें भी साथ लेकर चलता! परन्तु हमारा उतना पुण्य नहीं।

कवित्व इन्द्रधनुष लेकर अपना लक्ष्य भेदन कर सकता है। परन्तु हम पार्थिव प्राणियों को पार्थिव साधनों का ही सहारा लेना पड़ेगा और इसके लिये न तो किसी दूसरे पर ईर्ष्या करनी पड़ेगी न अपने ऊपर घृणा। जो साधन भगवान् ने दया करके हमें प्रदान किये हैं उन्हीं को बहुत समझकर स्वीकार करना होगा। परन्तु लज्जा यही है कि हम उन्हीं का यथोचित उपयोग नहीं कर सकते।

कवित्व स्वच्छन्दतापूर्वक स्वर्ग के छायापथ पर आनन्द से गुनगुनाता हुआ विचरण करे, अथवा वह स्वर्गङ्गा के निर्मल प्रवाह में निमग्न होकर अपने पृथ्वीतल के पापों का प्रक्षालन करे, लेखक उसे आयत्त करने की चेष्टा नहीं करता। उसकी तुच्छ तुकबन्दी सीधे मार्ग से चलती हुई राष्ट्र किंवा जाति-गङ्गा में ही एक डुबकी लगाकर "हरगङ्गा" गा सके तो वह इतने से ही कृतकृत्य हो जायगा। कहीं उसमें कुछ बातों का उल्लेख भी हो जाय तो फिर कहना ही क्या ?

कवित्व के उपासकों से यही प्रार्थना है कि वे उसकी सीमा इतनी संकुचित न कर दें कि नवीन दृष्टि से विचार करने पर पुरानी रचनाएँ तुकबन्दियों के सिवा और कुछ न रह जायें।

यदि हम किसी निबन्ध की एक-एक पंक्ति में रस की खोज करने लगेंगे तो काव्यों की तो बात ही क्या महाकाव्यों को भी अपना स्थान छोड़ने के लिए बाध्य होना पड़ेगा। एक एक पत्ते में फूल खोजने की चेष्टा व्यर्थ होगी और ऐसे फूलों का कोई मूल्य भी न रह जायगा। फूल के साथ पत्ती भी रहती ही है और सच पूछिए तो पत्तियों के बीच में ही वह खिलता है।

शरीर की उपेक्षा करके हम आत्मा की उपेक्षा नहीं कर सकते। शरीर में ही हमें उसके दर्शन हो सकते हैं।

कवित्व से उसे इतना ही कहना है कि ऊपर केवल स्वर्गङ्गा और स्वर्ग ही नहीं, वैतरणी और नरक भी हैं! स्वर्ग और नरक उलटे होकर भी ३६ के अङ्कों के समान पास ही पास रहते हैं, अतएव सावधान! अपने रूप को न भूलना। तुम स्वयं असाधारण हो—

केवल भावमयी कला,
ध्वनिमय है संगीत;
भाव और ध्वनि मय उभय,
जय कवित्व नय-नीति !

---

(६)

शब्द-माधुरी

ले०—पं० कृष्णबिहारी मिश्र, बी० ए०, एल-एल० बी०

झाँझ-मृदंग से भी शब्द ही निकलता है और मनुष्य-पशु आदि जो कुछ बोलते हैं, वह भी शब्द ही है। मनुष्यों के शब्दों में भी विभिन्नता है। सब देशों के मनुष्य एक ही प्रकार के शब्दों द्वारा अपने भाव प्रकट नहीं करते। भाषा शब्दों से बनी है। अतएव संसार में भाषाएँ भी अनेक प्रकार की हैं और उनके बोलनेवाले केवल अपनी ही भाषा बिना सीखे समझ सकते हैं, दूसरों की नहीं। प्रत्येक भाषा-भाषी मनुष्य अपने-अपने भाषा-भंडार के कुछ शब्दों को कर्कश तथा कुछ को मधुर समझते हैं।

'मधुर'-शब्द लाक्षणिक है। मधुरता गुण की पहचान जिह्वा से होती है। शक्कर का एक कण जीभ पर पहुँचा नहीं कि उसने बतला दिया, यह मीठा है। पर शब्द तो चक्खा नहीं जा सकता। फिर उसकी मिठाई से क्या मतलब? मतलब यह कि जिस प्रकार कोई वस्तु जीभ को एक विशेष आनन्द पहुँचाने के कारण मीठी कहलाती है, उसी प्रकार कोई ऐसा शब्द, जो कान में पड़ने पर आनंदप्रद होता है, 'मधुर' कहा जायगा।

शब्द-मधुरिमा का एकमात्र साक्षी कान है। कान के बिना शब्द मधुरिमा का निर्णय हो ही नहीं सकता। अतएव कौन शब्द मधुर है और कौन नहीं, यह जानने के लिये हमें कानों की शरण लेना चाहिए। ईश्वर का यह अपूर्व नियम है कि इस इन्द्रिय-ज्ञान और विवेचन में उसने सब मनुष्यों में एकता स्थापित कर रक्खी है। अपवादों की बात जाने दीजिए, तो यह मानना

पड़ेगा कि मीठी वस्तु संसार के सभी मनुष्यों को अच्छी लगती है। उसी प्रकार सुगंध-दुर्गंध आदि का हाल है। कानों से सुने जानेवाले शब्दों का भी यही हाल है। अफ्रीका के एक हबशी को जिस प्रकार शहद मीठा लगेगा, उसी प्रकार आयर्लैंड के एक आयरिश को भी। ठीक यही दशा शब्दों की है। कैसा ही क्यों न हो, बालक का तोतला बोल मनुष्यमात्र के कानों को भला लगता है। पुरुष की अपेक्षा स्त्री का स्वर विशेष रमणीयता रखता है। कोयल का शब्द क्यों मीठा है और कौवे का क्यों कर्कश, इसका कारण तो कान ही बता सकते हैं। जंगल में जो वायु पोले बाँसों में भरकर अद्भुत शब्द उत्पन्न करती है, उसी वायु से कंपमान वृक्ष भी हहर-हहर शब्द करते हैं। फिर क्या कारण है, जो बाँसोंवाला स्वर कानों को सुखद है और दूसरे स्वर में वह बात नहीं है? हमें प्रकृति में ऐसे ही नाना भाँति के शब्द मिला करते हैं। इन प्रकृतिवाले शब्दों में से जो हमें मीठे लगते हैं, उनसे ही मिलते जुलते शब्द भाषा के भी मधुर शब्द जान पड़ते हैं। बालक के मुँह से कठिन, मिले हुए शब्द आसानी से नहीं निकलते और जिस प्रकार के शब्द उसके मुँह से निकलते हैं, वे बहुत ही प्यारे लगते हैं। इससे निष्कर्ष यही निकलता है कि प्रायः मीलित वर्णोंवाले शब्द कान को पसंद नहीं आते। इसके विपरीत सानुस्वार, अमीलित वर्णोंवाले शब्दों से कर्णेन्द्रिय की तृप्ति-सी हो जाया करती है।

जिस प्रकार बहुत से शब्द मधुर हैं, उसी प्रकार कुछ शब्द कर्कश भी हैं। इनको सुनने से कानों को एक प्रकार का क्लेश-सा होता है। जिस भाषा में मधुर शब्द जितने ही अधिक होंगे, वह भाषा उतनी ही मधुर कही जायगी; इसके विपरीत वाली कर्कशा। परंतु सदा अपनी ही भाषा बोलते रहने से, अभ्यास के कारण, उस भाषा का कर्कश शब्द भी कभी-कभी वैसा नहीं जान पड़ता और उसके प्रति अनुराग और हठ भी कभी-कभी इस प्रकार के कर्कशत्व के प्रकट किए जाने में बाधा डालता है। अतएव यदि भाषा की मृदुलता कर्कशता का निर्णय करना हो, तो वह भाषा किसी ऐसे व्यक्ति को सुनाई जानी चाहिए, जो उसे समझता न हो। वह पुरुष तुरंत ही उचित बात कह देगा, क्योंकि उसके कानों का पक्षपात से अभी तक बिलकुल लगाव नहीं होने पाया है।

मिष्टभाषी का लोक पर क्या प्रभाव पड़ता है, इस बात को सभी जानते हैं। जब कोई हमीं में से मधुर स्वर में बात करता है, तो हमको अपार आनंद आता है। एक सुरूपवती स्त्री मिष्ट भाषण द्वारा अपने प्रिय पति को और भी वश में कर लेती है। मधुर स्वर न होना उसके लिये एक त्रुटि है। एक गुणी अनजान आदमी को कर्कश स्वर में बोलते देखकर लोग पहले उसको उजड्ड समझने लगते हैं। ठीक इसके विपरीत एक निर्गुणी को भी मधुर स्वर में भाषण करते देखकर यकायक वे उसकी ओर आकर्षित हो जाते हैं। सभा-समाज में वक्ता अपने मधुर स्वर से श्रोताओं का मन कुछ समय के लिये अपनी मुट्ठी में कर लेता है और यदि वह वक्ता पं० मदनमोहन जी मालवीय के समान पंडित भी हुआ, तो फिर कहना ही क्या! सोने में सुगंधवाली कहावत चरितार्थ होने लगती है।

घोर कलह के समय भी एक मधुरभाषी का वचन अग्नि पर पानी के छींटे का काम करता देखा गया है। निदान समाज पर मधुर भाषा का खूब प्रभाव है। लोगों ने तो इस प्रभाव को यहाँ तक माना है कि उसकी वशीकरण मंत्र से तुलना की है। कोई कवि इसी अभिप्राय को लेकर कहता है—

> कागा कासों लेत है, कोयल काको देत?
> मीठे बचन सुनाय के, जग बस में कर लेत।

यह बात ऊपर दिखलाई जा चुकी है कि कविता के माप शब्द हैं। ये शाब्दिक प्रतिनिधि कवि के विचारों को ज्यों-का-त्यों प्रकट करते हैं। लोक का नियम यह है कि प्रतिनिधि की योग्यता के अनुसार ही कार्य सहज हो जाता है। शब्दों की योग्यता विचार प्रकट करने का सामर्थ्य है। यह काम करने के लिये शब्दसमूह वाक्य का रूप पाता है। विचार प्रकट कर सकना वाक्य का प्रधान गुण होना चाहिए। इस गुण के बिना काम नहीं चल सकता। इस गुण के सहायक और भी कई गुण हैं। उन्हीं के अंतर्गत शब्द माधुर्य भी है। अतएव यह बात स्पष्ट है कि शब्द-माधुर्य विचार प्रकट कर सकनेवाले गुण की सहायता करता है। एक उदाहरण हमारे इस कथन को विशेष रूप से स्पष्ट कर देगा।

कहावत है, एक राजा के यहाँ एक कवि और वैयाकरणी पंडित साथ-ही-साथ पहुँचे। विवाद इस बात पर होने लगा कि दोनों में से कौन सुन्दरता-पूर्वक बात कर सकता है। राजा के महल के सामने एक सूखा वृक्ष लगा था। उसी को लक्ष्य करके उस पर एक-एक वाक्य बनाने के लिये उन्होंने कवि एवं वैयाकरणी को आज्ञा दी। वैयाकरणी ने कहा—'शुष्कं वृक्षं तिष्ठत्यग्रे' और कवि जी के मुख से निकला—'नीरस तरुवर विलसति पुरतः। दोनों के शब्द-प्रतिनिधि वही काम कर रहे हैं। दोनों ही वाक्यों में अपेक्षित विचार प्रकट करने का सामर्थ्य भी है। फिर भी मिलान करने पर एक वाक्य दूसरे वाक्य से इस बात में अधिक हो जाता है कि उसे कान अधिक पसंद करते हैं। इस पसंदगी का कारण खोजने के लिये दूर जाने की आवश्यकता नहीं। दूसरे वाक्य की शब्द-मधुरता की शिफ़ारिस ही इस पसंदगी का कारण है। वैयाकरणी महाराज का प्रत्येक शब्द मिला हुआ है। टवर्ग का प्रयोग एवं संधि करने से वाक्य में एक अद्‌भुत विकटता विराजमान है। इसके विपरीत दूसरे वाक्य में एक भी मीलित शब्द नहीं है। टवर्ग के अक्षरों का भी अभाव है। दीर्घान्त शब्दों के बचाने की भी चेष्टा की गई है। कानों को जो बात अप्रिय है, वह पहले में और जो बात प्रिय है, वह दूसरे में मौजूद है। इस गुणाधिक्य के कारण कवि की जीत अवश्यंभावी है। राजा ने भी अपने निर्णय में कवि ही को जिताया। निदान शब्द-माधुर्य का यह गुण स्पष्ट है।

अब इस बात पर भी विचार करना चाहिए कि संसार की जिन भाषाओं में कविता होती है, उनमें भी यह गुण माना जाता है या नहीं। संस्कृत-साहित्य में कविता का अंग खूब भरपूर है। कविता समझाने वाले ग्रंथ भी बहुत हैं। कहना नहीं होगा कि इन ग्रंथों में सर्वत्र ही माधुर्य-गुण का आदर है। संस्कृत के कवि अकेले पदों के लालित्य से भी विश्रुत हो गए हैं। दंडी* कवि का नाम लेते ही लोग पहले उनके पद-लालित्य का स्मरण करते हैं। गीतगोविन्द के रचयिता जयदेव जी का भी यही हाल है। कालिदास की प्रसाद-

---

* उपमा कालिदासस्य, भारवेरर्थगौरवम्,
दण्डिनः पद-लालित्यं, माघे संति त्रयोगुणाः।

पूर्ण मधुर भाषा का सर्वत्र ही आदर है। संस्कृत के समान ही फ़ारसी में भी शब्द-माधुरी पर ज़ोर दिया गया है।

अंगरेज़ी में भी Language of Music का कविता पर ख़ासा प्रभाव माना गया है*। भारतीय देशी भाषाओं में से उर्दू में शीरीं कलाम कहनेवालों की सर्वत्र प्रशंसा है। बंगला में यह गुण विशेषता से पाया जाता है। मराठी के प्रसिद्ध लेखक, चिपलूणकर की सम्मति† भी हमारे इस कथन के पक्ष में है। महामति पोप (Pope)‡ अपने समालोचना शीर्षक

---

* The ear indeed predominates over the eye because it is more immediately affected and because the language of music blends more immediately with; and forms a more natural accompaniment to the variable and indefinite association of ideas conveyed by words—[Lectures on the English poets—Hazlitt.

† इसके सिवा जो और रह गई अर्थात् पद-लालित्य, मृदुल मधुरता...... इत्यादि, सो सब प्रकार से गौण ही हैं। ये सब काव्य की शोभा निःसन्देह बढ़ाती हैं, पर ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि काव्य की शोभा इन्हीं पर है। (निबंधमालादर्श, पृष्ठ ३१ और ३२)

उक्त गुणों को अप्रधान कहने में हमारा यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि काव्य के लिये उनकी आवश्यकता ही नहीं है।.........सत्काव्य से यदि उनका संयोग हो जाय, तो उसकी रमणीयता को वे कहीं बढ़ा देते हैं।.........सर्वसाधारण के मनो-रंजनार्थ रत्न को जैसे कुन्दन में खचित करना पड़ता है, वैसे ही काव्य को उक्त गुणों से अवश्य अलंकृत करना चाहिए। (निबन्ध मालादर्श, पृष्ठ ३५)

‡ सब देसन में निज प्रभाव नित प्रकृति बगारत;
बिस्व-बिजेतनि को शब्दहिं सों बस कर डारत।
शब्द-माधुरी-शक्ति प्रबल मन मानत सब नर,
जैसो ह्वै भवभूति गयो, तैसो पदमाकर।
औ जयदेव अजों स्वच्छन्द ललित सों गावैं,
औ क्रमबिन हूँ पाठक को मति पाठ पढ़ावैं।

(समालोचनादर्श, पृष्ठ १६ और १७)

निबंध में यही बात कहते हैं। ऐसी दशा में यह बात सिद्ध है कि प्रायः सभी भाषाओं में शब्द-माधुर्य काव्य सौंदर्य का सहायक माना गया है। अतएव जिस भाषा में सहज माधुरी हो, वह कविता के लिये विशेष उपयुक्त होगी, यह बात भी निर्विवाद सिद्ध हो गई।

किसी भाषा में कम या अधिक मधुरता, तुलना से बतलाई जा सकती है। अपनी भाषा में वही शब्द साधारण होने पर भी दूसरी भाषा में और दृष्टि से देखा जा सकता है। अरबी के शब्द उर्दू में व्यवहृत होते हैं। अपनी भाषा में उनका प्रभाव चाहे जो हो, पर उर्दू में वे दूसरी ही दृष्टि से देखे जायँगे। भारतवर्ष के जानवरों की पंक्ति में आस्ट्रेलिया का कंगारू (Kangaroo) जीव कैसा लगेगा, यह तभी जान पड़ेगा, जब उनमें वह बिठला दिया जायगा। संस्कृत के शब्दों का संस्कृत में व्यवहृत होना वैसी कोई असाधारण बात नहीं है, पर भिन्न देशी भाषाओं में उनका प्रयोग और ही प्रकार से देखा जायगा। संस्कृत में मीलित वर्णों का प्रचुरता से प्रयोग किया जाता है। प्राकृत में यह बात बचाने की चेष्टा की गई है। प्राकृत संस्कृत की अपेक्षा कर्ण-मधुर है। यद्यपि पांडित्य-प्रभाव के संस्कृत में प्राकृत की अपेक्षा कविता विशेष हुई है; पर प्राकृत की कोमलता† उस समय भी स्वीकृत थी, जिस समय संस्कृत में कविता होती थी। इसी प्रकार तुलना की भित्ति पर ही अँगरेज़ी की अपेक्षा इटैलियन भाषा रसीली और मधुर है। अँगरेज़ी के प्रसिद्ध कवि मिल्टन ने इटली में भ्रमण करके इसी माधुरी का आस्वादन किया था। इटैलियन—जैसी विदेशी भाषा की शब्द-माधुरी ने ही निज देश-भाषा के कट्टर पक्षपाती मिल्टन को उस भाषा में भी कविता करने पर बाध्य किया था।

इसी माधुरी का फ़ारसी में अनुभव करके उर्दू के अनेक कवियों ने फ़ारसी में भी कविता की है और करते हैं। उत्तरीय भारत की देशी भाषाओं में भी दो-एक ऐसी हैं, जिनकी मधुरता लोगों को हठात् उसमें कविता करने को विवश करती है।

---

†परुसा सक्कअबंधा पाउअबंधो वि होइ सुउमारो ;
पुरुसमहिलाणं जेत्तिअमिहंतरं तेत्तिअमिमाणम्। (कर्पूर-मंजरी)

हिन्दी-कविता का आरंभ जिस भाषा में हुआ वह चन्द की कविता पढ़ने से जान पड़ती है। उनका पृथ्वीराजरासो काव्य हमें प्राकृत को हिन्दी से अलग होते दिखलाता है, इसके बाद ब्रजभाषा का प्रभाव बढ़ा। प्राकृत की सुकुमारता और मधुरता ब्रजभाषा के बाँट पड़ी थी, वरन् इसमें उसका विकाश उससे भी बढ़कर हुआ। ऐसी भाषा कविता के सर्वथा उपयुक्त होती है, यह ऊपर प्रतिपादित हो चुका है। निदान हिन्दी-कविता का वैभव ब्रजभाषा द्वारा बढ़ता ही गया। समय और आश्रयदाताओं का प्रभाव भी इस ब्रजभाषा-कविता का कारण माना जा सकता है। पर सबसे बड़ा आकर्षण भाषा की मधुरता का था और है।

"साँकरी गली में माय काँकरी गड़तु है"—वाली कथा भले ही झूठी हो, पर यह बात प्रत्यक्ष ही है कि फ़ारसी के कवियों तक ने ब्रजभाषा को सराहा और उसमें कविता करने में अपना अहोभाग्य माना। ब्रजभाषा में मुसलमानों को कविता करने का क्या कारण था? अवश्य ही भाषा-माधुर्य ने उन्हें भी ब्रजभाषा अपनाने को विवश किया। सौ से ऊपर मुसलमान-कवियों ने इस भाषा में कविता की है। संस्कृत के भी बड़े-बड़े पंडितों ने संस्कृत तक का आश्रय छोड़ा और हिन्दी में, इसी गुण की बदौलत, कविता की। उधर बड़े-बड़े योरुपवासियों ने भी इसी कारण ब्रजभाषा को माना। उर्दू और ब्रजभाषा में से किसमें अधिक मधुरता है, इसका निर्णय भलीभाँति हो चुका है। नर्तकी के मुँह से बीसों उर्दू में कही हुई चीज़ें सुनकर भी ब्रजभाषा में कही हुई चीज़ को सुनने के लिये खास उर्दू-प्रेमी कितना आग्रह करते हैं, यह बात किसी से छिपी नहीं। शृङ्गार-लोलुप श्रोता ब्रजभाषा की कविता इस कारण नहीं सुनते हैं कि वह अश्लील होने के कारण उनको आनन्द देगी, वरन् इस कारण कि उसमें एक सहज मिठास है, जिसको वे उर्दू की, शृङ्गार से सराबोर, कविता में ढूँढ़ने पर भी नहीं पाते।

एक उर्दू-कविता-प्रेमी महाशय से एक दिन हम से बातचीत हो रही थी। ये महाशय हिन्दी बिलकुल नहीं जानते हैं। जाति के ये भाटिए हैं। इनका मकान खास दिल्ली में है, पर मथुरा में भाटियों का निवास होने से ये वहाँ भी जाया करते हैं। बातों-ही-बातों में हमने इनसे ब्रज की बोली के विषय

में पूछा। इसका जो कुछ उत्तर उन्होंने दिया, वह हम ज्यों-का-त्यों यहाँ दिए देते हैं—

"बिरज की बोली का मैं आपसे क्या हाल बतलाऊँ ? उसमें तो मुझे एक ऐसा रस मिलता है, जैसा और किसी भी ज़बान में मिलना मुश्किल है। मथुरा में तो खैर वह बात नहीं है; पर हाँ, दिहात में नंदगाँव, बरसाने वगैरह को जब हम लोग परकम्मा (परिक्रमा) में जाते हैं, वहाँ की लड़कियों की घण्टों गुफ़्तगू ही सुना करते हैं। निहायत ही मीठी ज़बान है।"

मातृभाषा के जैसे प्रेमी इस समय बंगाली हैं, वैसे भारत के अन्य कोई भी भाषाभाषी नहीं हैं। पर इन बंगालियों को भी ब्रजभाषा की मधुरता माननी पड़ी है। एक बार एक बंगाली बाबू—जिन्होंने ब्रजभाषा की कविता कभी नहीं सुनी थी, हाँ खड़ी बोली की कविता से कुछ-कुछ परिचित थे, ब्रजभाषा की कविता सुनकर चकित हो गए। उन्होंने हठात् यही कहा—"भला ऐसी भाषा में आप लोगों ने कविता करना बंद क्यों कर दिया ? यह भाषा तो बड़ी ही मधुर है। आजकल समाचारपत्रों में हम जिस भाषा में कविता देखते हैं, वह तो ऐसी नहीं है।" बंगालियों के ब्रजभाषा माधुर्य के कायल होने का सब से बड़ा प्रमाण यही है कि बंगला साहित्य के मुकुट श्रीमान् रवीन्द्रनाथ ठाकुर महोदय ने इस बीसवीं शताब्दी तक में ब्रजभाषा में कविता करना अनुचित नहीं समझा। उन्होंने अनेक पद शुद्ध ब्रजभाषा में कहे हैं।

कुछ महानुभावों का कहना है कि ब्रजभाषा और खड़ी बोली की नींव साथ-ही-साथ पड़ी थी और शुरू में भी खड़ी बोली जन-साधारण की भाषा थी। इस बात को इसी तरह मान लेने से दो मतलब की बातें सिद्ध हो जाती हैं—एक तो यह कि ब्रजभाषा बोलचाल की भाषा होने के कारण कविता की भाषा नहीं बनाई गई, वरन् अपने माधुर्य-गुण के कारण; दूसरे खड़ी बोली का प्रचार कविता में, बोलचाल की भाषा होने पर भी, न हो सका। दूसरी बात बहुत ही आश्चर्यजनक है। भाषा के स्वाभाविक नियमों की दुहाई देने वाले इसका कोई यथार्थ कारण नहीं समझा पाते हैं। पर हम तो डरते-डरते यही कहेंगे कि यह ब्रजभाषा की अतुल माधुरी का ही प्रभाव था कि वही कविता के योग्य समझी गई। आजकल ब्रजभाषा में कविता होते न देखकर

डाक्टर ग्रियर्सन हिन्दी में कविता का होना ही स्वीकार नहीं करते । पं० सुधाकर द्विवेदी संस्कृत के प्रकांड पण्डित होते हुए भी व्रजभाषा-कविता में संस्कृत-कविता से अधिक आनन्द पाते थे । खड़ी बोली के आचार्य पं० श्रीधर पाठक भी व्रजभाषा की माधुरी मानते हैं—

"व्रजभाषा-सरीखी रसीली वाणी को कविता-क्षेत्र से बहिष्कृत करने का विचार केवल उन हृदय-हीन-अरसिकों के ऊपर हृदय में उठना संभव है, जो उस भाषा के स्वरूप-ज्ञान से शून्य और उसकी सुधा के आस्वादन से बिलकुल वंचित हैं।... ...क्या उसकी प्रकृत माधुरी और सहज मनोहरता नष्ट हो गई है ?"

यहाँ तक तो यह प्रतिपादित हो चुका है कि शब्दों में भी मधुरता है, इस मधुरता के साक्षी कान हैं, जिस भाषा में अधिक मधुर शब्द हों उसे मधुर भाषा कहना चाहिए, कविता के लिए मधुर शब्द आवश्यक हैं एवं व्रजभाषा बहु-सम्मति से मधुर भाषा है और माधुरी के वश उसने "सत्य पद्य-पीयूष के अक्षय स्रोत प्रवाहित किए हैं ।" अब इस संबंध में हमें एक बात और कहनी है । कविता के लिए तन्मयता की बड़ी ज़रूरत है । प्रिय वस्तु के द्वारा अभीष्ट-साधन आसानी से होता है । मधुर शब्दावली सभी को प्रिय लगती है । इसलिये यह बात उचित ही जान पड़ती है कि मधुर वाक्यावली में बद्ध कवि-विचार अंगूर के समान सब प्रकार से अच्छे लगेंगे । अच्छे वस्त्रों में कुरूप भी अनेकानेक दोष छिपा लेता है, पर सुन्दर की सुन्दरता तो और भी बढ़ जाती है । इसी प्रकार अच्छे भाव किसी भाषा में हों अच्छे लगेंगे; पर यदि वे मधुर भाषा में हों, तो और भी हृदय-ग्राही हो जायँगे । भाव की उत्कृष्टता जहाँ होती है, वहीं पर सत्काव्य होता है और भाषा की मधुरता इस भावोत्कृष्टता पर पालिश का काम देती है ।

भाषा की चमचमाहट भाव को तुरन्त हृदयंगम कराती है । व्रजभाषा की सरस, मधुर वर्णावली में यही गुण है । यहाँ पर इन्हीं गुणों का उल्लेख किया गया है । जो लोग इन सब बातों को जानते हुए भी भाषा के माधुर्य-गुण को नहीं मानते, उनको हमें दास जी का केवल यह छन्द सुना देना है —

आक औ कनक-पात तुम जौ चबात हौ,
तौ षटरस व्यञ्जन न केहूँ भाँति लटिगो।
भूषन, बसन कीन्हों व्याल, गज-खाल को, तौ
सुबरन, साल को न पैन्हिबो उलटिगो।
'दास' के दयाल हौ, सुरीति ही उचित तुम्हें;
लीन्ही जो कुरीति, तो तिहारो ठाट हटिगो।
ह्वैकै जगदीश कीन्हों बाहन वृषभ को, तौ
कहा सिव साहब गयन्दन को घटिगो!

अंत में हम ब्रजभाषा-कविता की मधुरता का निर्णय, सहृदयों के हृदय पर छोड़ इसकी प्रकृत माधुरी के कुछ उदाहरण नीचे देते हैं—

पायनि-नूपुर मंजु बजै, कटि-किंकिनि मैं धुनि की मधुराई;
सांवरे अंग लसै पट पीत, हिये हुलसै बनमाल सुहाई।
माथे किरीट, बड़े दृग चंचल, मंद हँसी मुखचंद जुन्हाई;
जै जग-मन्दिर-दीपक सुन्दर, श्रीब्रज-दूलह, देव सहाई।

देव

ब्रज-नवतरुनि-कदंब-मुकुटमनि श्यामा आज बनी,
तरल तिलक ताटंक गंड पर, नासा जलज-मनी।
यों राजत कबरी—गूंथित कच, कनक-कंज-बदनी,
चिकुर-चंद्रकनि-बीच अरध बिधु मानहुँ ग्रसत फनी।

—हित हरिवंश

ब्रजभाषा में यह गुण सहज सुलभ है। अतएव उसमें कविता करने वालों को भावोत्कृष्टता की ओर झुकना चाहिए। खड़ी बोली में सचमुच ही शब्द-माधुर्य की कमी है। सो उक्त भाषा में कविता करने वालों को अपनी कविता में यह शब्द-माधुरी लानी चाहिए।

शब्द-मधुरता हिन्दी-कविता की बपौती है। इसके तिरस्कार से कोई लाभ नहीं होता है। कविता-प्रेमियों को अपने इस सहज-प्राप्त गुण को लातों मार कर दूर न कर देना चाहिए। इससे कविता का कोई विशेष कल्याण नहीं

होगा। माधुर्य और कविता का कुछ संबंध नहीं है, यह समझना भारी भूल है। मधुरता कविता की प्रधान सहायिका होने के कारण सर्वदैव आदरणीया है। ईश्वर करे, हमारे पूर्व-कवियों की यह थाती आजकल के सुयोग्य भाषाभिमानी कवियों द्वारा भली भाँति रक्षित रहे।

---

(७)

छन्द-साधना

लेखक—कविवर सुमित्रानन्दन पंत

भाषा का, और मुख्यतः कविता की भाषा का, प्राण राग है। राग ही के पङ्खों की अबाध उन्मुक्त उड़ान में लयमान होकर कविता सान्त को अनन्त से मिलाती है। राग ध्वनि-लोक-निवासी शब्दों के हृदय में परस्पर स्नेह तथा ममता का सम्बन्ध स्थापित करता है। संसार के पृथक्-पृथक् पदार्थ पृथक्-पृथक् ध्वनियों के चित्र मात्र हैं। समस्त ब्रह्माण्ड के रोओं में व्याप्त यही राग, उसकी शिरोपशिराओं में प्रधावित हो, अनेकता में एकता का सञ्चार करता, यही विश्व-वीणा के अगणित-तारों से जीवन की अँगुलियों के कोमल-कर्कश घात-प्रतिघातों, लघु-गुरु सम्पर्कों, ऊँच-नीच प्रहारों से अनन्त झङ्कारों, असंख्य स्वरों में फूटफूट कर हमारे चारों ओर आनन्दाकाश के स्वरूप में व्याप्त होजाता; यही संसार के मानस समुद्र में अनेकानेक इच्छाओं-आकाङ्क्षाओं, भावनाओं-कल्पनाओं की तरङ्गों में प्रतिफलित हो, सौन्दर्य के सौ-सौ स्वरूपों में अभिव्यक्ति पाता है। प्रेम के अक्षय मधु में सने, सृजन के बीजरूप पराग से परिपूर्ण संसार के मानस-शतदल के चारों ओर यह चिर-अतृप्त स्वर्ण-भृंग एक अनन्त-गुञ्जार में मँडराता रहता है।

राग का अर्थ आकर्षण है; यह वह शक्ति है जिसके विद्युत्स्पर्श से खिञ्च कर हम शब्दों की आत्मा तक पहुँचते, हमारा हृदय उनके हृदय में प्रवेश कर एक भाव हो जाता है। प्रत्येक शब्द एक संकेत-मात्र इस विश्व-व्यापी संगीत की अस्फुट झङ्कार-मात्र है। जिस प्रकार समग्र पदार्थ एक दूसरे पर अवलम्बित

हैं, ऋणानुबन्ध हैं, उसी प्रकार शब्द भी हैं ये सब एक ही विराट् परिवार के प्राणी हैं। इनका आपस का सम्बन्ध, सहानुभूति, अनुराग-विराग जान लेना; कहाँ कब एक की साड़ी का छोर उड़कर दूसरे का हृदय रोमाञ्चित कर देता; कैसे एक की ईर्षा अथवा क्रोध दूसरे का विनाश करता, कैसे फिर दूसरा बदला लेता; कैसे ये गले लगते, बिछुड़ते; कैसे जन्मोत्सव मनाते तथा एक दूसरे की मृत्यु से शोकाकुल होते—इनकी पारस्परिक प्रीति, मैत्री, शत्रुता तथा वैमनस्य का पता लगा लेना क्या आसान है? प्रत्येक शब्द एक एक कविता है, लक्ष्मी और मल-द्वीप की तरह कविता भी अपने बनानेवाले शब्दों की कविता को खा-खाकर बनती है।

जिस प्रकार शब्द एक ओर व्याकरण के कठिन नियमों से बद्ध होते, उसी प्रकार दूसरी ओर राग के आकाश में पक्षियों की तरह स्वतन्त्र भी होते हैं। जहाँ राग की उन्मुक्त-स्नेहशीलता तथा व्याकरण की नियम-वश्यता में सामञ्जस्य रहता है, वहाँ कोमल मा तथा कठोर पिता के घर में लालित-पालित सन्तान की तरह, शब्दों का भरणपोषण अङ्गविन्यास तथा मनोविकास स्वाभाविक और यथेष्ट रीति से होता है। कौन जानता है, कब, कहाँ और किस नदी के किनारे, न जाने कौन, एक दिन साँझ या सुबह के समय वायु-सेवन कर रहा था, शायद बरसात बीत गई थी, शरद की निर्मलता कलरव की लहरों में उच्छ्वसित हो न जाने किस ओर बह रही थी! अचानक एक अप्सरा जल से बाहर निकल, मुँह से रेशमी घूँघट हटा, अपने सुनहले-रुपहले पङ्ख फैला, क्षणभर चञ्चल-लहरों की ताल पर मधुर-नृत्य कर, अन्तर्धान हो गई। जैसे उस परिस्फुट-यौवना सरिता ने अपने मीन-लोचन से कटाक्षपात किया हो! तब मीन आँखों का उपमान भी न बना होगा; न जाने, हर्ष तथा विस्मयातिरेक से उस अज्ञात-कवि के क्या कुछ निकल पड़ा—"मत्स्य!" उस कवि का समस्त-आनन्द, आश्चर्य, भय, प्रेम, रोमाञ्च तथा सौन्दर्यानुभूति जैसे सहसा "मत्स्य" शब्द के रूप में प्रतिध्वनित तथा संग्रहीत हो साकार बन गई। अब भी यह शब्द उसी चटुल मछली की तरह पानी में छप् छप् शब्द करता हुआ, एक बार क्षिप्रगति से उछल कर फिर अपनी ही चञ्चलता में जैसे डूब जाता है। शकुन्तला-नाटक के, 'पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयात् भूयसा

पूर्वकायम्' मृग की तरह इस शब्द का पूर्वार्ध भी जैसे अपने पश्चार्ध में प्रवेश करना चाहता है।

भिन्न भिन्न पर्यायवाची शब्द, प्रायः, सङ्गीत-भेद के कारण एक ही पदार्थ के भिन्न-भिन्न स्वरूपों को प्रकट करते हैं। जैसे, "भ्रू" से क्रोध की वक्रता, 'भृकुटि' से कटाक्ष की चञ्चलता, 'भौंहों' से स्वाभाविक प्रसन्नता, ऋजुता का हृदय में अनुभव होता है। ऐसे ही 'हिलोर' में उठान, 'लहर' में सलिल के वक्षःस्थल की कोमल-कम्पन, 'तरङ्ग' में लहरों के समूह का एक दूसरे को धकेलना, उठकर गिर पड़ना, 'बढ़ो बढ़ो' कहने का शब्द मिलता है; "वीचि" से जैसे किरणों में चमकती, हवा के पलने में हौले हौले झूलती हुई हँसमुख लहरियों का, 'ऊर्मि' से मधुर मुखरित हिलोरों का, हिल्लोल-किल्लोल से ऊँची ऊँची बाँहें उठाती हुई उत्पातपूर्ण तरङ्गों का आभास मिलता है। "पङ्ख" शब्द में केवल फड़क ही मिलती है, उड़ान के लिए भारी लगता है; जैसे किसी ने पक्षी के पंखों में शीशे का टुकड़ा बाँध दिया हो, वह छटपटा कर बार बार नीचे गिर पड़ता हो; अँग्रेज़ी का 'Wing' जैसे उड़ान का जीता-जागता चित्र है। उसी तरह 'Touch' में जो छूने की कोमलता है, वह "स्पर्श" में नहीं मिलती। "स्पर्श", जैसे प्रेमिका के अङ्गों का अचानक स्पर्श पाकर हृदय में जो रोमाञ्च हो उठता है, उसका चित्र है; ब्रजभाषा के 'परस' में छूने की कोमलता अधिक विद्यमान है; 'Joy' से जिस प्रकार मुँह भर जाता है, 'हर्ष' से उसी प्रकार आनन्द का विद्युत्-स्फुरण प्रकट होता है। अँग्रेज़ी के 'Air' में एक प्रकार की transparency मिलती है, मानो इसके द्वारा दूसरी ओर की वस्तु दिखाई पड़ती हो; 'अनिल' से एक प्रकार की कोमल-शीतलता का अनुभव होता है, जैसे खस की टट्टी से छन कर आ रही हो, 'वायु' में निर्मलता तो है ही, लचीलापन भी है, यह शब्द रबर के फ़ीते की तरह खिंच कर फिर अपने ही स्थान पर आ जाता है; 'प्रभञ्जन' 'Wind' की तरह शब्द करता, बालू के कण और पत्तों को उड़ाता हुआ बहता है; 'श्वसन' की सनसनाहट छिप नहीं सकती; 'पवन' शब्द मुझे ऐसा लगता है जैसे हवा रुक गई हो, 'प' और 'न' की दीवारों से घिर सा जाता है; 'समीर' लहराता हुआ बहता है।

कविता के लिए चित्र-भाषा की आवश्यकता पड़ती है, उसके शब्द सस्वर होने चाहिएँ, जो बोलते हों, सेब की तरह जिनके रस की मधुर लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर झलक पड़े; जो अपने भाव को अपनी ही ध्वनि में आँखों के सामने चित्रित कर सकें; जो झङ्कार में चित्र, चित्र में झङ्कार हों; जिनका भाव-सङ्गीत विद्युद्धारा की तरह रोम-रोम में प्रवाहित हो सके; जिनका सौरभ सूँघते ही साँसों द्वारा अन्दर पैठ कर हृदयाकाश में समा जाय; जिनका रस मदिरा की फेन-राशि की तरह अपने प्याले से बाहर छलक उसके चारों ओर मोतियों की झालर की तरह झूलने लगे, अपने वृत्त में न समा कर मधु की तरह टपकने लगे; अर्धनिशीथ की तारावली की तरह जिनकी दीपावली अपनी मौन-जड़ता के अन्धकार को भेद कर अपने ही भावों की ज्योति में दमक उठे; जिनका प्रत्येक चरण प्रियङ्गु की डाल की तरह अपने ही सौन्दर्य के स्पर्श से रोमाञ्चित रहे; आपान की दीप मालिका की तरह जिनकी छोटी-छोटी पंक्तियाँ अपने अन्तस्तल में सुलगी ज्वालामुखी को न दबा सकने के कारण अनन्त श्वासोच्छ्वासों के भूकम्प में काँपती रहें!

भाव और भाषा का सामंजस्य, उनका स्वरैक्य ही चित्र-राग है। जैसे भाव ही भाषा में घनीभूत हो गए हों; निर्झरिणी की तरह उनकी गति और रव एक बन गये हों, छुड़ाये न जा सकते हों; कवि का हृदय जैसे नीड़ में सुप्त पक्षी की तरह किसी अज्ञात स्वर्ण-रश्मि के स्पर्श से जग कर, एक अनिर्वचनीय आकुलता से, सहसा अपने स्वर की सम्पूर्ण-स्वतन्त्रता में कूक उठा हो, एक रहस्यपूर्ण सङ्गीत के स्रोत में उमड़ चला हो; अन्तर का उल्लास जैसे अपने फूट उड़ने के स्वभाव से बाध्य हो वीणा के तारों की तरह अपने आप झङ्कारों में नृत्य करने लगा हो; भावनाओं की तरुणता अपने ही आवेश से अधीर हो जैसे शब्दों के चिरालिङ्गन-पाश में बँध जाने के लिए हृदय के भीतर से अपनी बाँहें बढ़ाने लगी हो;—यही भाव और स्वर का मधुर-मिलन, सरस-सन्धि है। हृदय के कुञ्ज में छिपी हुई भावना मानो चिरकाल तक प्रतीक्षा करने के बाद अपने प्रियतम से मिली हो, और उसके रोएँ-रोएँ आनन्दोद्रेक से झनझना उठे हों।

जहाँ भाव और भाषा में मैत्री अथवा ऐक्य नहीं रहता, वहाँ स्वरों के

पावस में केवल शब्दों के 'बटु-समुदाय' ही दादुरों की तरह इधर-उधर कूदते, फुदकते तथा साम-ध्वनि करते सुनाई देते हैं। ब्रज-भाषा के अलङ्कृत काल की अधिकांश कविता इसका उदाहरण है। अनुप्रासों की ऐसी आराजकता तथा अलङ्कारों का ऐसा व्यभिचार और कहीं देखने को नहीं मिलता। स्वस्थ वाणी में जो एक सौन्दर्य मिलता है उसका कहीं पता ही नहीं! उस "सूधे पाँव न धरि परत शोभा ही के भार" वाली ब्रज की बालकसज्जा का सुकुमार शरीर अलङ्कारों के अस्वाभाविक बोझ से ऐसा दबा दिया गया, उसके कोमल-अङ्गों में क़लम की नोक से असंस्कृत रुचि की स्याही का ऐसा गोदना भर दिया गया कि उसका प्राकृतिक रूप-रङ्ग कहीं दीख ही नहीं पड़ता; उस बालिका के अस्थि-हीन अङ्ग खींच-खींच, तोड़-मरोड़ कर, प्रोक्रस्टीज़ की तरह, किसी प्रकार छन्दों की चारपाई में बाँध दिये, फ़िट कर दिये गये हैं! प्रत्येक पद्य, Messrs. Whiteaway Laidlaw and Co. Catalogue में दी हुई नर-नारियों की तस्वीरों की तरह,—जिनकी सत्ता संसार में और कहीं नहीं,—एक नये फ़ैशन के गौन या पेटी-कोट, नई हैट या अण्डर-वियर, नये विन्यास के अलङ्कार-आभूषण अथवा वस्त्रों के नये नये नमूनों का विज्ञापन देने के लिए ही जैसे बनाया गया हो।

अलङ्कार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं, वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष-द्वार हैं; भाषा की पुष्टि के लिए, राग की परिपूर्णता के लिए आवश्यक उपादान हैं; वे वाणी के आचार, व्यवहार, रीति, नीति हैं; पृथक् स्थितियों के पृथक् स्वरूप, भिन्न अवस्थाओं के भिन्न चित्र हैं। जैसे वाणी की झङ्कारें विशेष घटना से टकरा कर फेनाकार हो गई हों, विशेष भावों के झोंके खाकर बाल-लहरियों, तरुण-तरंगों में फूट गई हों; कल्पना के विशेष बहाव में पड़ आवर्तों में नृत्य करने लगी हों। वे वाणी के हास, अश्रु, स्वप्न, पुलक, हाव-भाव हैं। जहाँ भाषा की जाली केवल अलङ्कारों के चौखटे में फ़िट करने के लिए बुनी जाती है, वहाँ भावों की उदारता शब्दों की कृपण जड़ता में बँधकर 'सेनापति' के दाता और सूम की तरह 'इकसार' हो जाती है।

जिस प्रकार संगीत में सात स्वर तथा उनकी श्रुति-मूर्छनाएँ केवल राग की अभिव्यक्ति के लिए होती हैं, और विशेष स्वरों के योग, उनके विशेष

प्रकार के आरोह-अवरोह से विशेष राग का स्वरूप प्रकट होता है, उसी प्रकार कविता में भी विशेष अलङ्कारों, लक्षणा-व्यञ्जना आदि विशेष शब्द-शक्तियों तथा विशेष छन्दों के सम्मिश्रण और सामञ्जस्य से विशेषभाव की अभिव्यक्ति करने में सहायता मिलती है। जहाँ उपमा उपमा के लिए अनुप्रास अनुप्रास के लिए, श्लेष, अपह्नुति, गूढ़ोक्ति आदि अपने अपने लिए हो जाते—जैसे पक्षी का प्रत्येक पङ्ख यह इच्छा करे कि मैं भी पक्षी की तरह स्वतन्त्र रूप से उड़ूं,—वे अभीप्सित-स्थान में पहुँचने के मार्ग न रह कर स्वयं अभीप्सित-स्थान, अभीप्सित-विषय बन जाते हैं; वहाँ बाजे के सब स्वरों के एक साथ चिल्ला उठने से राग का स्वरूप अपने ही तत्वों के प्रलय में लुप्त हो जाता; काव्य के साम्राज्य में अराजकता पैदा हो जाती, कविता सम्राज्ञी हृदय के सिंहासन से उतार दी जाती, और उपमा, अनुप्रास, यमक, रूपक आदि उसके अमात्य, सचिव, शरीर-रक्षक तथा राजकर्म्मचारी, शब्दों की छोटी-मोटी सेनाएँ सङ्गृहीत कर, स्वयं शासक बनने की चेष्टा में विद्रोह खड़ा कर देते, और सारा साम्राज्य नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है।

कविता में शब्द तथा अर्थ की अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती, वे दोनों भाव की अभिव्यक्ति में डूब जाते हैं; तब भिन्न-भिन्न आकारों में कटी-छँटी शब्दों की शिलाओं का अस्तित्व ही नहीं मिलता, राग के लेप से उनकी सन्धियाँ एकाकार हो जाती हैं; उनका अपना रूप भाव के बृहत्स्वरूप में बदल जाता, किसी के कुशल-करों का माधवी-स्पर्श उनकी निर्जीवता में जीवन फूँक देता, वे अहल्या की तरह शाप-मुक्त हो जग उठते, हम उन्हें पाषाण-खण्डों का समुदाय न कह, ताजमहल कहने लगते, वाक्य न कह काव्य कहने लगते हैं। जिस प्रकार सङ्गीत में भिन्न-भिन्न स्वर राग की लय में ऐसे मिल जाते हैं कि हम उन्हें पृथक् नहीं कर सकते, यहाँ तक कि उनके होने न होने की ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता, हम केवल राग के सिन्धु में डूब जाते हैं, उसी प्रकार कविता में भी शब्दों के भिन्न-भिन्न कण एक होकर रस की धारा के स्वरूप में बहने लगते, उनकी लँगड़ाहट में गति आ जाती, हम केवल रस की धारा को ही देख पाते हैं; कणों का हमें अस्तित्व ही नहीं मिलता।

जिस प्रकार किसी प्राकृतिक-दृश्य में, उसके रङ्ग-बिरङ्गे पुष्पों, लाल-हरे-

पीले, छोटे-बड़े तृण गुल्म-लताओं, ऊंचा-नीची सघन-विरल वृक्षावलियों, झाड़ियों, छाया-ज्योति की रेखाओं, तथा पशु-पक्षियों की प्रचुर ध्वनियों का सौन्दर्य-रहस्य उनके एकान्त-संमिश्रण पर ही निर्भर रहता, और उनमें से किसी एक को अपनी मैत्री अथवा सम्पूर्णता से अलग कर देने पर वह अपना इन्द्रजाल खो बैठता है, उसी प्रकार काव्य के शब्द भी परस्पर अन्योन्याश्रित होने के कारण एक दूसरे के बल से सशक्त रहते; अपनी सङ्कीर्णता की झिल्ली तोड़, तितली की तरह भाव तथा राग के रंगीन पङ्खों में उड़ने लगते, और अपनी डाल से पृथक होते ही शिशिर की बूँद की तरह अपना अमूल्य मोती गँवा बैठते हैं।

व्रज-भाषा के अलंकृत काल में सङ्गीत के आदर्श का जो अधःपात हुआ, उसका एक मुख्य कारण तत्कालीन कवियों के छन्दों का चुनाव भी है। कविता तथा छन्द के बीच बड़ा घनिष्ठ संबंध है; कविता हमारे प्राणों का सङ्गीत है, छन्द हृत्कम्पन; कविता का स्वभाव ही छन्द में लयमान होता है। जिस प्रकार नदी के तट अपने बन्धन से धारा की गति को सुरक्षित रखते,— जिनके बिना वह अपनी ही बन्धन हीनता में अपना प्रवाह खो बैठती है,— उसी प्रकार छन्द भी अपने नियन्त्रण से राग को स्पंदन-कम्पन तथा वेग प्रदान कर, निर्जीव शब्दों के रोड़ों में एक कोमल सजल कलरव भर, उन्हें सजीव बना देते हैं। वाणी की अनियमित साँसें नियंत्रित हो जातीं, तालयुक्त हो जातीं, उसके स्वर में प्राणायाम, रोंओं में स्फूर्ति आजाती, राग की असम्बद्ध झङ्कारें एक वृत्त में बँध जातीं उनमें परिपूर्णता आ जाती है। छन्द-बद्ध-शब्द, चुम्बक के पार्श्ववर्ती लोहचूर्ण की तरह, अपने चारों ओर एक आकर्षण-क्षेत्र (Magnetic field) तैयार कर लेते, उनमें एक प्रकार का सामंजस्य, एक रूप, एक विन्यास आ जाता, उनमें राग की विद्युत्-धारा बहने लगती, उनके स्पर्श में एक प्रभाव तथा शक्ति पैदा हो जाती है।

कविता हमारे परिपूर्ण क्षणों की वाणी है। हमारे जीवन का पूर्णरूप, हमारे अन्तरतम-प्रदेश का सूक्ष्माकाश ही सङ्गीतमय है; अपने उत्कृष्ट क्षणों में हमारा जीवन छन्द ही में बहने लगता; उसमें एक प्रकार की सम्पूर्णता

स्वरैक्य तथा संयम आ जाता है। प्रकृति के प्रत्येक कार्य, रात्रि-दिवस की आँख-मिचौनी, षड्ऋतु-परिवर्तन, सूर्य-शशि का जागरण-शयन, ग्रह-उपग्रहों का अश्रान्त नर्तन—सृजन, स्थिति, संहार,—सब एक अनन्त छन्द, एक अखण्ड-सङ्गीत ही में होता है।

भौगोलिक स्थिति, शीत-ताप, जल-वायु, सभ्यता आदि के भेद के कारण संसार की भिन्न-भिन्न भाषाओं के उच्चारण, सङ्गीत में भी विभिन्नता आ जाती है। छन्द का भाषा के उच्चारण, उसके सङ्गीत के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। संस्कृत का सङ्गीत समास-सन्धि की अधिकता, शब्द और विभक्तियों की अभिन्नता के कारण शृङ्खलाकार, मेखलाकार हो गया है; उसमें दीर्घश्वास की आवश्यकता पड़ती है। उसके शब्द एक दूसरे का हाथ पकड़, कन्धे से कन्धा मिलाकर मालाकार घूमते, एक के बिना जैसे दूसरा रह नहीं सकता; एक शब्द का उच्चारण करते ही सारा वाक्य मुँह से स्वयं बाहर निकल आना चाहता; एक कोना पकड़ कर हिला देने से सारा चरण जञ्जीर की तरह हिलने लगता है। शब्दों की इस अभिन्न मैत्री, इस अन्योन्याश्रय ही के कारण संस्कृत में वर्ण-वृत्तों का प्रादुर्भाव हुआ, उसका राग ऐसा सान्द्र तथा संबद्ध है कि संस्कृत के छन्दों में अन्त्यानुप्रास की आवश्यकता ही नहीं रहती, उसके लिए स्थान ही नहीं मिलता। वर्णिक छन्दों में जो एक नृपोचित-गरिमा मिलती है, वह 'तुक' के सङ्केतों तथा नियमों के अधीन होकर चलना अस्वीकार करती है; वह ऐरावत की तरह अपने ही गौरव में झूमती हुई जाती, तुक का अङ्कुश उसकी मान-मर्यादा के प्रतिकूल है। जिस प्रकार संस्कृत के सङ्गीत की गरिमा की रक्षा करने के लिए, उसे पूर्ण विकास देने के लिए, उसमें वर्ण-वृत्तों की आवश्यकता पड़ी, उसी प्रकार वर्ण-वृत्तों के कारण संस्कृत में अधिकाधिक पर्यायवाची शब्दों की, उसमें पर्यायों की तो प्रचुरता है, पर भावों के छोटे-बड़े चढ़ाव-उतार, उनकी श्रुति तथा मूर्छनाओं, लघु-गुरु भेदों को प्रकट करने के लिए पर्याप्त शब्दों का प्रादुर्भाव न हो सका। वर्णवृत्तों के निर्माण में विशेषताओं तथा पर्यायों से अधिक सहायता मिलने के कारण उपर्युक्त अभाव विशेषणों की भीड़ों से ही पूरा कर लिया गया। यही कारण है कि (ripple, billow, wave, tide) आदि वस्तु के सूक्ष्म भेदोप-

भेद-द्योतक शब्दों के गढ़ने की ओर संस्कृत के कवियों का उतना ध्यान नहीं रहा जितना तुल्यार्थ शब्दों के बढ़ाने की ओर।

संस्कृत का सङ्गीत जिस तरह हिल्लोलाकार मालोपमा में प्रवाहित होता है, उस तरह हिन्दी का नहीं। वह लोल-लहरों का चञ्चल कलरव, बाल-झङ्कारों का छेकानुप्रास है। उसमें प्रत्येक शब्द का स्वतन्त्र हृत्स्पन्दन, स्वतन्त्र अंग-भंगी, स्वाभाविक साँसें हैं। हिन्दी का संगीत स्वरों की रिमझिम में बरसता, छनता-छनकता, बुद्बुदों में उबलता, छोटे-छोटे उत्सों के कलरव में उछलता-किलकता हुआ बहता है। उसके शब्द एक दूसरे के गले लगकर, पगों से पग मिलाकर सेनाकार नहीं चलते; बच्चों की तरह अपनी ही स्वच्छन्दता में थिरकते-कूदते हैं। यही कारण है कि संस्कृत में संयुक्ताक्षर के पूर्व अक्षर को गुरु मानना आवश्यक-सा हो जाता, वह अच्छा भी लगता है; हिन्दी में ऐसा नियम नहीं, और वह कर्ण-कटु भी हो जाता है।

हिन्दी का संगीत केवल मात्रिक-छन्दों ही में अपने स्वाभाविक विकास तथा स्वास्थ्य की सम्पूर्णता प्राप्त कर सकता, उन्हीं के द्वारा उसके सौन्दर्य की रक्षा की जा सकती है। वर्ण-वृत्तों की नहरों में उसकी धारा अपना चञ्चल-नृत्य, अपनी नैसर्गिक मुखरता, कल्‌कल् छल्‌छल्, तथा अपने क्रीड़ा, कौतुक, कटाक्ष एक साथ ही खो बैठती, उसका हास्य-हँस सरल मुखमुद्रा गम्भीर मौन तथा अवस्था से अधिक प्रौढ़ हो जाती, उसका चञ्चल भृकुटि-भंग दिखलावटी गरिमा से दब जाता है। ऐसा जान पड़ता है कि उसके चञ्चल-पदों से स्वाभाविक-नृत्य छीन कर किसी ने बलपूर्वक, उन्हें सिपाहियों की तरह गिन गिनकर पाँव उठाना सिखलाकर, उनकी चञ्चलता को पद-चालन के व्यायाम की बेड़ी से बाँध दिया है। हिन्दी का संगीत ही ऐसा है कि उसके सुकुमार पद-क्षेप के लिए वर्ण-वृत्त पुराने फैशन के चाँदी के कड़ों की तरह बड़े भारी हो जाते हैं, उसकी गति शिथिल तथा विकृत हो जाती, उसके पदों में वह स्वाभाविक नूपुर ध्वनि नहीं रहती।

बंगला के छन्द भी हिन्दी-कविता के सम्यक् वाहन नहीं हो सकते; बँगला भाषा का संगीत आलाप-प्रधान होने से अनियन्त्रित-सा है। उसकी धारा पहाड़ी नदी की तरह ओठों के तटों से टकराती, आकुञ्चित चक्कर

काटती, मन्द-क्षिप्र गति बदलती, स्वरपात के रोड़ों का आघात पाकर फेनाकार शब्द करती, अपनी शब्दराशि को झकोरती, चक्कर लेती, चढ़ती, गिरती, उठती, पड़ती हुई आगे बढ़ती है। उसके अक्षर हिन्दी की रीति से ह्रस्व-दीर्घ के पलड़ों में सूक्ष्म रूप से नहीं तुले मिलते; उनका मात्रा-काल उच्चारण की सुविधानुसार न्यूनाधिक हो जाता है। अँगरेज़ी की तरह बँगला में भी स्वरपात (Accent) अधिक परिस्फुट रूप में मिलता है। यदि अँगरेज़ी तथा बंगला के शब्द हिन्दी के छन्दों में कम्पोज़ कर कस दिये जायँ, तो वे अपना स्वर खो बैठें। संस्कृत के शब्द जैसे नपे-तुले, कटे-छँटे, (Diamond cut के) होते हैं, वैसे बँगला अंगरेज़ी के नहीं, वे जैसे लिखे जाते वैसे नहीं पढ़े जाते। बंगला के शब्द उच्चारण की धारा में पड़ स्पञ्ज (Sponge) के टुकड़ों की तरह स्वर से फूल उठते, और अंगरेज़ी के शब्दों का कुछ नुकीला भाव उच्चारण करते समय विलायती मिठाई की तरह मुँह के भीतर ही गल कर रह जाता, वे चिकने-चुपड़े, गोल तथा कोमल होकर बाहर निकलते हैं।

बँगला में, अधिकतर, अक्षर-मात्रिक छन्दों में कविता की जाती है; पुराने वैष्णव-कवियों के अतिरिक्त,—जिन्होंने संस्कृत और हिन्दी के ह्रस्व-दीर्घ का ढङ्ग अपनाया,—अन्यत्र, ह्रस्व-दीर्घ के नियमों पर बहुत कम कविता मिलती है; इस प्रणाली पर चलने से बँगला का स्वाभाविक सङ्गीत विनष्ट भी हो जाता है; रवीन्द्रिक ह्रस्व-दीर्घ में बंगला का प्रकृतिगत राग अधिक प्रस्फुटित तथा परिपूर्ण मिलता है; उसके अनुसार 'ऐ' 'औ' तथा संयुक्ताक्षर के पूर्व-वर्ण को छोड़ कर और सर्वत्र—आ, ई, ऊ, ऋ, ए, ओ में—एक ही मात्रा काल माना जाता; और वास्तव में, बँगला में इनका ठीक-ठीक दीर्घ उच्चारण होता भी नहीं। पर हिन्दी में तो सोने की तोल है, उसमें आप रत्ती भर भी किसी मात्रा को, उच्चारण की सुविधा के लिए, घटा-बढ़ा नहीं सकते, उसकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती; इस लिए बँगला-छन्दों की प्रणालियों में डालने से उसके सङ्गीत की रक्षा नहीं हो सकती।

व्रजभाषा के अलङ्कृत काल में "सवैया" और "कवित्त" का ही बोल-बाला रहा; दोहा-चौपाई महात्मा तुलसीदासजी ने इतने ऊँचे उठा दिये, ऐसे चमका दिये, तुलसी की प्रगाढ़ भक्ति के उद्गारों को बहाते-बहाते उनका स्वर

ऐसा सध गया, ऐसा उज्ज्वल पवित्र तथा परिणत हो गया था कि एक-दो को छोड़, अन्य कवियों को उन पवित्र-स्वरों को अपनी शृङ्गार की तन्त्री में चढ़ाने का साहस ही नहीं हुआ; उनकी लेखनी-द्वारा वे अधिक परिपूर्ण रूप पा भी नहीं सकते थे। इसके अतिरिक्त सवैया तथा कवित्त छन्दों में रचना करना आसान भी होता है, और सभी कवि सभी छन्दों में सफलतापूर्वक रचना कर भी नहीं सकते। छन्दों को अपनी अँगुलियों में नचाने के पूर्व, कवि को छन्दों के सङ्केतों पर नाचना पड़ता है; सरकस के नवीन अदम्य-अश्वों की तरह उन्हें साधना उनके साथ-साथ घूमना, दौड़ना, चक्कर खाना पड़ता है; तब कहीं वे स्वेच्छानुसार, इङ्गित-मात्र पर वर्तुलाकार, अण्डाकार, आयताकार बनाये जा सकते हैं। जिस प्रकार सा रे ग म आदि स्वर, एक होने पर भी पृथक्-पृथक् वाद्य-यन्त्रों में उनकी पृथक् पृथक् रीति से साधना करनी पड़ती है, उसी प्रकार भिन्न भिन्न छन्दों के तारों, परदों तथा तन्तुओं से भावनाओं का राग जाग्रत करने के पूर्व, भिन्न-भिन्न प्रकार से निहित प्रत्येक की स्वर-योजना से परिचय प्राप्त कर लेना पड़ता है, तभी छन्दों की तन्त्रियों से कल्पना की सूक्ष्मता, सुकुमारता, उसके बोल-तान, आलाप भावना की मुरकियाँ तथा मीड़ें स्वच्छन्दता तथा सफलतापूर्वक झङ्कारित की जा सकती हैं। प्रायः देखा जाता है कि प्रत्येक कवि के अपने विशेष छन्द होते हैं, जिनमें उसकी छाप-सी लग जाती, जिनके ताने-बाने में वह अपने उद्‌गारों को कुशलतापूर्वक बुन सकता है। खड़ी बोली के कवियों में गुप्तजी को हरिगीतिका, हरिऔधजी को चौपदों, सनेही जी को षट्‌पदियों में विशेष सफलता प्राप्त हुई है।

पिङ्गलाचार्य केशवदासजी अपनी रामचन्द्रिका को जिन-जिन ड्योढ़ियों तथा सुरङ्गों से ले गये हैं, उनमें अधिकांश उनसे अपरिचित-सी जान पड़ती हैं, जिनके रहस्यों से वे पूर्णतया अभिज्ञ न थे। ऐसा जान पड़ता है, उन्होंने बलपूर्वक शब्दों की भीड़ को ठेल, छन्दों के कन्धे पिचका कर अपनी कविता की पालकी को आगे बढ़ाया है; नौसिखिये साइकिलिस्ट की तरह, जिसे साइ-कल पर चढ़ने का अधिक शौक होता है, उनके छन्दों के पहिये, बैलन्स ठीक-ठीक न रहने के कारण, डगमगाते, आवश्यकता से अधिक हिलते-डुलते हुए जाते हैं।

सवैया तथा कवित्त छन्द भी मुझे हिन्दी की कविता के लिए उपयुक्त नहीं जान पड़ते। सवैया में एक ही सगण की आठ बार पुनरावृत्ति होने से, उसमें एक प्रकार की जड़ता, एकस्वरता (Monotony) आ जाती है। उसके राग का स्वरपात बार-बार दो लघु अक्षरों के बाद आने वाले गुरु अक्षर पर पड़ने से सारा छन्द एक तरह की कृत्रिमता तथा राग की पुनरुक्ति में जकड़ जाता है। कविता की लड़ी में, छन्द की डोरी पर दानों के बीच दी हुई स्वरों की गाँठें तो बड़ी-बड़ी होकर सामने आ जाती हैं, और भावद्योतक शब्दों की गुरियाँ छोटी पड़ उन गाँठों के बीच छिप जाती हैं। चूने के पक्के किनारों के बीच बहती हुई धारा की तरह, रस की स्रोतस्विनी से अपने वेगानुसार तटों में स्वाभाविक काँट-छाँट करने का अधिकार छीन लिया जाता है; अपने पुष्प-गुल्म लताओं के कोमल पुलिनों से चुम्बन-आलिङ्गन बदलने, प्रवाह के बीच पड़े हुए रङ्ग-विरङ्गी रोड़ों से फेनिल-हास-परिहास करने तथा आवर्तों के रूप में भ्रूपात करने का उसे अवसर ही नहीं मिलता; वह अपने जीवन की विचित्रता (romance), स्वतन्त्रता तथा स्वच्छन्दता खो बैठती है।

कवित्त-छन्द, मुझे ऐसा जान पड़ता है, हिन्दी का औरस जात नहीं, पोष्य-पुत्र है; न जाने, यह हिन्दी में कैसे और कहाँ से आ गया; अक्षर-मात्रिक छन्द बंगला में मिलते हैं, हिन्दी के उच्चारण-सङ्गीत की वे रक्षा नहीं कर सकते। कवित्त को हम संलापोचित (Colloquial) छन्द कह सकते हैं; सम्भव है, पुराने समय में भाट लोग इस छन्द में राजामहाराजाओं की प्रशंसा करते हों और इसमें रचना-सौन्दर्य पाकर, तत्कालीन कवियों ने धीरे-धीरे इसे साहित्यिक बना दिया हो।

हिन्दी का स्वाभाविक सङ्गीत ह्रस्व-दीर्घ मात्राओं को स्पष्टतया उच्चारित करने के लिए पूरा-पूरा समय देता है। मात्रिक छन्द में बद्ध प्रत्येक लघु-गुरु को उच्चारण करने में जितना काल तथा विस्तार मिलता, उतना ही स्वाभाविक वार्तालाप में भी साधारणतः मिलता है; दोनों में अधिक अन्तर नहीं रहता। यही हिन्दी के राग की सुन्दरता अथवा विशेषता है। पर कवित्त-छन्द हिन्दी के इस स्वर और लिपि के सामञ्जस्य को छीन लेता है। उसमें, यति के नियमों के पालनपूर्वक, चाहे आप इकत्तीस गुरुअक्षर रख दें, चाहे लघु, एक ही बात

है । छन्द की रचना में अन्तर नहीं आता । इसका कारण यह है कि कवित्त में प्रत्येक अक्षर को, चाहे वह लघु हो या गुरु, एक ही मात्रा काल मिलता है, जिससे छन्द-बद्ध शब्द एक दूसरे को झकारते हुए, परस्पर टकराते हुए, उच्चारित होते हैं; हिन्दी का स्वाभाविक सङ्गीत नष्ट हो जाता है । सारी शब्दावली जैसे मद्यपान कर लड़खड़ाती हुई, अड़ती, खिचती, एक उत्तेजित तथा विदेशी स्वरपात के साथ बोलती है । कवित्त-छन्द के किसी चरण के अधिकांश शब्दों को किसी प्रकार मात्रिक छन्द में बाँध दीजिए, यथा—

"कूलन में केलिन में कछारन में कुञ्जन में क्यारिन में कलित कलान किलकन्त है"—इस लड़ी को यों सोलह मात्रा के छन्द में रख दीजिए ।

"सु-कूलन में केलिन में (और)
कछारन कुञ्जन में (सब ठौर)
कलित-क्यारिन में (कल) किलकन्त
बनन में बगरयो (विपुल) बसन्त ।"

अब दोनों को पढ़िये, और देखिए कि इन्हीं 'कूलन केलिन' आदि शब्दों का उच्चारण-सङ्गीत इन छन्दों में किस प्रकार भिन्न भिन्न हो जाता है; कवित्त में परकीय, मात्रिक छन्द में स्वकीय, हिन्दी को अपना उच्चारण मिलता है ।

इस अनियन्त्रित छन्द में नायक-नायिकाओं, तथा अलङ्कारों का विज्ञापन-मात्र देने में केवल स्याही का ही अधिक अपव्यय नहीं हुआ, तत्कालीन कविता का राग भी शब्द-प्रधान हो गया । वाणी के स्वाभाविक स्वर और सङ्गीत का विकाश तो रुक गया, उसकी पूर्ति अनुप्रासों तथा अलङ्कारों की अधिकता से करनी पड़ी । कवित्त-छन्द में जब तक अलङ्कारों की भरमार न हो तब तक वह सजता भी नहीं; अपनी कुल-वधू की तरह दो एक नये आभूषण उपहार पाकर ही वह प्रसन्नता से प्रदीप्त नहीं हो उठता, गणिका की तरह अनेकानेक वस्त्र-भूषण ऐंठ लेने पर ही कहीं अपने साथ रसालाप करने देता है ।

इसका कारण यह है कि काव्य-सङ्गीत के मूल तन्तु स्वर हैं, न कि व्यञ्जन; जिस प्रकार सितार में राग का रूप प्रकट करने के लिए केवल 'स्वर के तार' पर ही कर-सञ्चालन किया जाता और शेष तार केवल स्वर-पूर्ति के लिए, मुख्य तार को सहायता देने भर के लिए झङ्कारित किये जाते, उसी

प्रकार कविता में भी भावना का रूप स्वरों के संमिश्रण, उनकी यथोचित मैत्री पर ही निर्भर रहता है ; ध्वनि-चित्रण को छोड़ जिसमें राग व्यञ्जन-प्रधान रहता, यथा—"घन घमण्ड नभ गरजत घोरा" अन्यत्र व्यञ्जन-सङ्गीत भावना की अभिव्यक्ति को प्रस्फुटित करने में प्रायः गौण रूप से सहायता-मात्र करता है। जिस छन्द में स्वर-सङ्गीत की रक्षा की जा सकती, उसके सङ्कोच-प्रसार को यथावकाश दिया जा सकता है, उसमें राग का स्वाभाविक-स्फुरण, भाव तथा वाणी का सामंजस्य पूर्ण-रूप से मिलता है ; जहाँ राग केवल व्यञ्जनों की डोरियों में झूलता, वहाँ अलङ्कारों की झनक के साथ केवल 'हिंडोरे' की ही रमक सुनाई पड़ती है। कवित्त का राग व्यञ्जन-प्रधान है, उसमें स्वर अथवा मात्राओं के विकास के लिए अवकाश नहीं मिलता। नीचे कुछ उदाहरण देकर इसे स्पष्ट करूँगा—

> "इन्द्रधनु-सा आशा का छोर
> अनिल में अटका कभी अछोर"

इस मात्रिक छन्द में 'सा आशा का' इन चार वर्णों में 'आ' का प्रस्तार आशा के छोर को फैलाकर इन्द्रधनुष की तरह अनिल में अछोर अटका देता है ; द्वितीय चरण में 'अ' की पुनरावृत्ति भी कल्पना को इस काम में सहायता देती है ; उसी प्रकार,

> "कभी अचानक भूतों का-सा
> प्रकटा विकट महा-आकार"

इन चरणों में स्वर के प्रस्तार-द्वारा ही भूतों का महा आकार प्रकट होता है ; 'क' 'ट' आदि व्यञ्जनों की आवृत्ति उसे भीषण बनाने में सहायता-मात्र देती है ; पुनः—

> "हमें उड़ा लेता जब द्रुत
> दल-बल-युत घुस बातुल-चोर"

इसमें लघु अक्षरों की आवृत्ति ही बातुल-चोर के दल बल युत घुसने के लिए मार्ग बनाती है। यदि आप उपर्युक्त चरणों में किसी एक को कवित्त-छन्द में बाँध कर पढ़ें, यथा—

"इन्द्रधनु-सा आशा का छोर
अनिल में अटका कभी अछोर"
इसे, "इन्द्रधनु-सा आशा का छोर अटका अछोर
अनिल में, (अनिल के अञ्चल आकाश में)"

इस प्रकार रख कर पढ़ें, तो प्रत्येक की कड़ी अलग अलग हो जाने तथा स्वरों का प्रस्तार रुक जाने के कारण राग के आकाश में कल्पना का अछोर इन्द्र-धनुष नहीं बनने पाता। उसी प्रकार—"अरी सलिल की लोल-हिलोर," इस पद में 'ई' तथा 'ओ' की आवृत्ति जिस प्रकार 'हिलोर' को गिराती और उठाती, तथा "पल पल परिवर्तित प्रकृति-वेश" इस चरण में लघु-मात्राओं का समुदाय अथवा स्वरों का सङ्कोच, गिलहरी की तरह दौड़ कर जिस प्रकार प्रकृति के वेश को पल पल परिवर्तित कर देता, कवित्त-छन्द की Pressing Machine में कस जाने पर उपर्युक्त वाक्यों के पङ्ख उस प्रकार स्वच्छन्दता पूर्वक स्वराकाश में नहीं उड़ सकते, क्योंकि वह छन्द हिन्दी के उच्चारण-सङ्गीत के अनुकूल नहीं है।

कविता विश्व का अन्तरतम सङ्गीत है, उसके आनन्द का रोम-हास है; उसमें हमारी सूक्ष्मतम दृष्टि का मर्म प्रकाश है। जिस प्रकार कविता में भावों का अन्तरस्थ हृत्स्पन्दन अधिक गम्भीर, परिस्फुट तथा परिपक्व रहता है उसी प्रकार छन्द-बद्ध भाषा में भी राग का प्रभाव, उसकी शक्ति, अधिक जाग्रत्, प्रबल तथा परिपूर्ण रहती है। राग ध्वनि-लोक की कल्पना है। जो कार्य भाव-जगत् में कल्पना करती, वह कार्य शब्द-जगत् में राग; दोनों अभिन्न हैं। यदि किसी भाषा के छन्दों में, भारती के प्राणों में शक्ति तथा स्फूर्ति संचार करने वाले उसके सङ्गीत को, अपनी उन्मुक्त झङ्कारों के पङ्खों में उड़ने के लिए प्रशान्त क्षेत्र तथा विशदाकाश न मिलता हो, वह पिञ्जर-बद्ध कीर की तरह, छन्द के अस्वाभाविक बन्धनों से कुण्ठित है, उड़ने की चेष्टा में छटपटा कर गिर पड़ता हो, तो उस भाषा में छन्दबद्ध काव्य का प्रयोजन ही क्या? प्रत्येक भाषा के छन्द उसके उच्चारण-सङ्गीत के अनुकूल होने चाहिएँ। जिस प्रकार पतङ्ग डोर के लघु-गुरु संकेतों की सहायता से और भी ऊँची ऊँची उड़ती जाती है, उसी प्रकार कविता का राग भी छन्द के इङ्गितों से दृप्त तथा प्रभावित

होकर अपनी ही उन्मुक्ति में अनन्त की ओर अग्रसर होता जाता है। हमारे साधारण वार्तालाप में भाषा सङ्गीत को जो यथेष्ट क्षेत्र नहीं प्राप्त होता उसी की पूर्ति के लिये काव्य में छन्दों का प्रादुर्भाव हुआ है; कविता में भावों के प्रगाढ़-सङ्गीत के साथ भाषा का सङ्गीत भी पूर्ण-परिस्फुट होना चाहिए, तभी दोनों में स्वरैक्य रह सकता है। पद्य को हम गद्य की तरह नहीं पढ़ते, यदि ऐसा करें तो हम उसके साथ अन्याय ही करेंगे। पद्य में वाणी का रोआँ रोआँ, सङ्गीत में सन कर, रस में डूबे हुए किशमिश की तरह, फूल उठता है; सुरों में कसी हुई वीणा की तरह उसके तार, किसी अज्ञात वायवीय-स्पर्श से, अपने आप, अनवरत झङ्कारों में काँपते रहते हैं; पावस की अँधियारी में जुगुनुओं की तरह अपनी ही गति में प्रभा प्रसारित करते रहते हैं।

अब कुछ तुक की बातें होनी चाहिएँ। तुक राग का हृदय है, जहाँ उसके प्राणों का स्पन्दन विशेष-रूप से सुनाई पड़ता है। राग की समस्त छोटी बड़ी नाड़ियाँ मानों अन्त्यानुप्रास के नाड़ी-चक्र में केन्द्रित रहतीं, जहाँ से नवीन-बल तथा शुद्ध रक्त ग्रहण करके छन्द के शरीर में स्फूर्ति सञ्चार करती रहती हैं। जो स्थान ताल में 'सम' का है, वही स्थान छन्द में तुक का. जहाँ पर राग शब्दों की सरल-तरल ऋजु-कुञ्चित 'परनों' में घूम-फिर कर विराम ग्रहण करता, उसका सिर जैसे अपनी ही स्पष्टता में हिल उठता है। जिस प्रकार अपने आरोह-अवरोह में रागवादी स्वर पर बार बार ठहर कर अपना रूप-विशेष व्यक्त करता है, उसी प्रकार वाणी का राग भी तुक की पुनरावृत्ति से स्पष्ट तथा परिपुष्ट होकर लययुक्त हो जाता है। तुक उसी शब्द में अच्छा लगता है जो पद-विशेष में गुँथी हुई भावना का आधार-स्वरूप हो। प्रत्येक वाक्य के प्राण शब्द विशेष पर निहित अथवा अवलम्बित रहते हैं, शेष शब्द उसकी पूर्ति के लिए, भाव को स्पष्ट करने के लिए, सहायक-मात्र होते हैं। उस शब्द को हटा देने से सारा वाक्य अर्थ-शून्य, हृदय-हीन सा हो जाता है। वाक्य की डाल में, अपने अन्य सहचरों की हरीतिमा से सुसज्जित, यह शब्द नीड़ की तरह छिपा रहता है, जिसके भीतर से भावना की कोकिला बोल उठती, और वाक्य का प्रत्येक पत्र उसके राग को अपनी मर्मर ध्वनि में प्रति-ध्वनित कर परिपुष्ट करता है। इसी शब्द-सम्राट् के भाल पर तुक का मुकुट शोभा देता है। इसका कारण

यह है कि अन्त्यानुप्रासवाला शब्द राग की आवृत्ति से सशक्त होकर हमारा ध्यान आकर्षित करता रहता है, अतः वाक्य का प्रधान शब्द होने के कारण वह भाव के हृदयंगम कराने में भी सहायता दे सकता है।

हमें अपनी दिन-चर्या में भी, प्रायः एक प्रकार का तुक मिलता है, जो उसे संयमित तथा सीमाबद्ध रखता; जिसकी ओर दिन की छोटी-मोटी कार्य-कारिणी शक्तियाँ आकर्षित रहती हैं। जब हम उस सीमा को असावधानी के कारण उल्लङ्घन कर बैठते हैं, तब हमारे कार्य हमें तृप्ति नहीं देते, हमारे हृदय में एक प्रकार का असन्तोष जमा हो जाता; हम अपनी दिन-चर्या का केन्द्र खो बैठते, और स्वयं अपनी ही आँखों में बेतुके से लगते हैं। एक और कारण से भी हम अपने जीवन का तुक खो बैठते हैं—जब हम अधिक कार्य-व्यग्र अथवा भाराक्रान्त रहते, उस समय काम-काज का ऐसा ताप, क्रिया का ऐसा स्पन्दन-कम्पन रहता है कि हमें अपनी स्वाभाविक दिन-चर्या में बरते जाने वाले शिष्टाचार-व्यवहार के लिए जीवन के स्वतन्त्र क्षणों में प्रत्येक कार्य के साथ जो एक आनन्द की तृप्ति मिल जाती, उसके लिए अवकाश ही नहीं मिलता; हमारे कार्य-प्रवाह में तीव्र गति रहती, हमारा जीवन एक अश्रान्त-दौड़-सा, कुछ समय के लिए, बन जाता। यही Blank Verse अथवा अतुकान्त कविता है। इसमें कर्म (Action) का प्राधान्य रहता है; दिन की उज्वल ज्योति में काम-काज का अधिक प्रकाश रहता है, उसमें हमें तुक नहीं मिलता; प्रभात और संध्या के अवकाशपूर्ण घाटों पर हमें इस तुक के दर्शन मिलते हैं; प्रत्येक पदार्थ में एक सोने की भावपूर्ण, शान्त संगीतमय छाप सी लग जाती, यही गीति-काव्य है।

हिन्दी में रोला छन्द अन्त्यानुप्रास हीन कविता के लिए विशेष उपयुक्त जान पड़ता है, उसकी साँसों में प्रशस्त जीवन तथा स्पन्दन मिलता है। उसके तुरही के समान स्वर से निर्जीव-शब्द भी फड़क उठते हैं। ऐसा जान पड़ता है, उसके राजपथ में मेला लगा है, प्रत्येक शब्द 'प्रवाल-शोभा इव पादपानां' तरह-तरह के संकेत तथा चेष्टाएँ करता, हिलता-डुलता आगे बढ़ता है।

भिन्न-भिन्न छन्दों की भिन्न-भिन्न गति होती है, और तदनुसार वे रस-विशेष की सृष्टि करने में भी सहायता देते हैं। रघुवंश में 'अजविलाप' का

वैतालीय छन्द करुण रस की अवतारणा के लिए कितना उपयुक्त है ? उसके स्वर में कितनी कातरता, दीनता तथा व्याकुलता भरी है ! जैसे अधिक उद्वेग के कारण उसका कण्ठ गद्‌गद्‌ हो गया हो, भर गया हो। यदि विहाग-राग की तरह उस छन्द का चित्र भी कहीं होता तो उसकी आँखों में अवश्य आँसुओं का समुद्र उमड़ता हुआ मिलता। मालिनी-छन्द में भी करुण आह्वान अच्छा लगता है।

हिन्दी के प्रचलित छन्दों में पीयूष-वर्षण, रूपमाला, सखी और प्लवंगम छन्द करुण रस के लिए मुझे विशेष उपयुक्त लगते हैं। पीयूष-वर्षण की ध्वनि से कैसी उदासीनता टपकती है ! मरुभूमि में बहने वाली निर्जन तटिनी की तरह, जिसके किनारे वन्य-पुष्पों के शृंगार से विहीन, जिसकी धारा लहरों के चञ्चल कलरव तथा हास-परिहास से वञ्चित रहती, यह छन्द भी, वैधव्य-वेश में, अकेलेपन में सिमटता हुआ श्रान्त-क्लान्त गति से, अपने ही अश्रु-जल में सिक्त धीरे-धीरे बहता है। हरिगीतिका छन्द भी करुण रस के लिए अच्छा है।

रोला और रूपमाला दोनों छन्द चौबीस मात्रा के हैं; पर इन दोनों की गति में कितना अन्तर है ? रोला जहाँ बरसाती नाले की तरह अपने पथ की रुकावटों को लाँघता तथा कलनाद करता हुआ आगे बढ़ता है, वहाँ रूपमाला दिन भर के काम-धन्धे के बाद अपनी ही थकावट के बोझ से लदे हुए किसान की तरह, चिन्ता में डूबा हुआ, नीची दृष्टि किये, ढीले पाँवों से जैसे घर की ओर आता है।

राधिका-छन्द में ऐसा जान पड़ता है, जैसे इसकी क्रीड़ा-प्रियता अपने ही परदों में 'गत' बजा रही हो। जैसे परियों की टोली परस्पर हाथ पकड़, चञ्चल नूपुर नृत्य करती हुई, लहरों की तरह अंग-भंगियों में उठती-झुकती, कोयल कण्ठ-स्वरों से गा रही हो। इस छन्द में जितनी ही अधिक लघु-मात्राएँ रहेंगी, इसके चरणों में उतनी ही मधुरता तथा नृत्य रहेगा।

सोलह मात्रा का अरिल्ल-छन्द भी निर्झरिणी की तरह कल-कल छल-छल करता हुआ बहता है। इसकी तथा चौदह मात्रा के सखी-छन्द की गति में कितना अन्तर है ! सखी-छन्द के प्रत्येक चरण में अन्त्यानुप्रास अच्छा नहीं

लगता, दूर-दूर तुक रखने से यह अधिक करुण हो जाता है ; अन्त में मगण के बदले भगण अथवा नगण रखने से इसकी लय में एक प्रकार का स्वर-भङ्ग आ जाता है, जो करुणा का उद्धार करने में सहायता देता है। पन्द्रह मात्रा का चौपाई छन्द अनमोल मोतियों का हार है ; बाल-साहित्य के लिए इससे उपयुक्त छन्द मुझे कोई नहीं मिलता। इसकी ध्वनि में बच्चों की सी, बच्चों का कण्ठ स्वर मिलता है ; बच्चों की ही तरह यह चलने में इधर-उधर देखता हुआ, अपने को भूल जाता है। अरिल्ल भी बाल-कल्पना के पङ्खों में खूब उड़ता है।

हिन्दी में मुक्त-काव्य का प्रचार दिन-दिन बढ़ रहा है ; कोई इसे रबर-काव्य कहते हैं; कोई कङ्गारू। आज, सौभाग्य अथवा दुर्भाग्यवश, हिन्दी में सर्वत्र 'स्वच्छन्द-छन्द' ही की छटा दिखलाई पड़ती है। यह 'स्वच्छन्द-छन्द' ध्वनि अथवा लय (Rhythm) पर चलता है। जिस प्रकार जलौघ पहाड़ से निर्झर-नाद में उतरता, चढ़ाव में मन्द गति, उतार में क्षिप्र वेग धारण करता, आवश्यकतानुसार अपने किनारों को काटता छाँटता, अपने लिए ऋजु-कुञ्चित पथ बनाता हुआ आगे बढ़ता है, उसी प्रकार यह छन्द भी कल्पना तथा भावना के उत्थान-पतन, आवर्तन-विवर्तन के अनुरूप सङ्कुचित-प्रसारित होता, सरल-तरल, ह्रस्वदीर्घ गति बदलता रहता है।

इस मुक्त-छन्द की विशेषता यह है कि इसमें भाव तथा भाषा का सामञ्जस्य पूर्ण रूप से निभाया जा सकता है। हरिगीतिका, पद्धरि, रोला आदि छन्दों में प्रत्येक चरण की मात्राएँ नियमित रूप से बद्ध होने के कारण भावना को छन्द के अनुसार ले जाना, किसी प्रकार खींच-खाँच कर उसके ढाँचे में फ़िट कर देना पड़ता है ; कभी पाद-पूर्ति के लिए अनावश्यक शब्द भी रख देने पड़ते हैं। विकट साम्यवादियों की तरह ये छन्द बाह्य-समानता चाहते हैं। मुक्त-काव्य आन्तरिक-ऐक्य, भाव-जगत् के साम्य को ढूँढ़ता है। उसमें छन्द के चरण भावनानुकूल ह्रस्व-दीर्घ हो सकते हैं। क्वार्टरों (Quarters) में रहनेवाले बाबुओं की तरह, भावना को परतन्त्रता के हाथों बने हुए घरों के अनुसार, अपनी खाने पीने, उठने बैठने, सोने रहने की सुविधा को, कुछ इने गिने कमरों ही में येन केन प्रकारेण ठूँस-ठाँस कर जीवन निर्वाह नहीं

करना पड़ता; वह अपनी स्वतन्त्र-इच्छा, स्वाभाविक-रुचि के अनुरूप, अपनी आत्मा के सुविधानुसार अपना निकेतन बनाता है, जिसमें उसका जीवन अपने कुटुम्ब के साथ स्वेच्छानुसार हाथ पाँव फैला कर सुखपूर्वक रह सके।

इस प्रकार की कविता में अंगों के गठन (Solidity of expression) की ओर विशेष ध्यान रखना पड़ता है। इसमें चरण इसलिए घटाये बढ़ाये जाते हैं कि काव्य सम्बद्ध, संयमित रहे; उसकी शरीरयष्टि न गणेश जी की तरह स्थूल तथा मांसल हो, न ब्रजभाषा की विरहिणी के सदृश अस्पष्ट अस्थि-पञ्जर। जहाँ छन्द के पद भावानुसार नहीं जाते, और मोहवश अपनी सजावट ही के लिए घटते-बढ़ते, चीन की सुन्दरियों अथवा पाश्चात्य महिलाओं की तरह केवल अपने चरणों को छोटा रखने के लिए लोहे के तंग जूते (Tight shoes), कमर को पतली रखने के लिए चुस्त-पेटी पहनने लगते, वहाँ उनके स्वाभाविक-सौन्दर्य का विकास तो रुक ही जाता है, कविता अस्वस्थ तथा लक्ष्य-भ्रष्ट भी हो जाती है।

---

(८)

काव्य में प्राकृतिक दृश्य

ले०—पं० रामचन्द्र शुक्ल, अध्यापक काशी-विश्वविद्यालय

'दृश्य' शब्द के अंतर्गत, केवल नेत्रों के विषय का ही नहीं, अन्य ज्ञानेन्द्रियों के विषयों का भी (जैसे शब्द, गंध, रस) ग्रहण समझना चाहिए। "लहकती हुई मंजरियों से लदी और वायु के झकोरों से हिलती हुई आम की डाली पर काली कोयल बैठी मधुर कूक सुना रही है" इस वाक्य में यद्यपि रूप, शब्द और गंध, तीनों का विवरण है, पर इसे एक दृश्य ही कहेंगे। बात यह है कि कल्पना द्वारा अन्य विषयों की अपेक्षा नेत्रों के विषयों का ही सबसे अधिक आनयन होता है, और सब विषय गौण-रूप से आते हैं। बाह्य करणों के सब विषय अंतःकरण में 'चित्र-रूप' से प्रतिबिम्बित हो सकते हैं। इसी प्रतिबिम्ब को हम 'दृश्य' कहते हैं।

यह तो स्पष्ट है कि 'प्रतिबिम्ब' या 'दृश्य' का ग्रहण 'अभिधा' द्वारा ही होता है। पर 'अभिधा' द्वारा ग्रहण एक ही प्रकार का नहीं होता। हमारे यहाँ आचार्यों ने संकेत-ग्रह के जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा, ये चार विषय तो बताये, पर स्वयं संकेत-ग्रह के दो रूपों का विचार नहीं किया। अभिधा द्वारा ग्रहण दो प्रकार का होता है—बिंब-ग्रहण और अर्थ-ग्रहण। किसी ने कहा 'कमल'। अब इस 'कमल' पद का ग्रहण कोई इस प्रकार भी कर सकता है कि ललाई लिए हुए सफ़ेद पँखड़ियों और नाल आदि के सहित एक फूल का चित्र अंतःकरण में थोड़ी देर के लिए उपस्थित हो जाय; और इस प्रकार भी कर सकता है कि कोई चित्र उपस्थित न हो, केवल पद का अर्थ-मात्र समझ कर काम चलाया जाय। व्यवहार में तथा शास्त्रों में इसी दूसरे प्रकार के संकेत-ग्रह से काम चलता है। वहाँ एक-एक पद के वाच्यार्थ के रूप पर अड़ते चलने की फ़ुरसत नहीं रहती। पर काव्य के दृश्य-चित्रण में संकेत-ग्रह पहले प्रकार का होता है। उसमें कवि का लक्ष्य 'बिंब-ग्रहण' कराने का रहता है, केवल अर्थ ग्रहण कराने का नहीं। वस्तुओं के रूप और आसपास की परिस्थिति का ब्योरा जितना ही स्पष्ट या स्फुट होगा, उतना ही पूर्ण बिंब-ग्रहण होगा, और और उतना ही अच्छा दृश्य-चित्रण कहा जायगा।

'बिंब-ग्रहण' कराने के लिये चित्रण काव्य का प्रथम विधान है; जो 'विभाव' में दिखाई पड़ता है। काव्य में 'विभाव' मुख्य समझना चाहिए। भावों के प्रकृत आधार या विषय का कल्पना द्वारा पूर्ण और यथातथ्य प्रत्यक्षी-करण कवि का पहला सबसे आवश्यक काम है। यों तो जिस प्रकार विभाव अनुभाव आदि में हम कल्पना का प्रयोग पाते हैं, उसी प्रकार उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों में भी; पर जब कि रस ही काव्य में प्रधान वस्तु है, तब उसके संयोजकों में कल्पना का जो प्रयोग होता है, वही आवश्यक और प्रधान ठहरता है, इन संयोजकों में इसका आधार खड़ा करनेवाला जो विभावन व्यापार है, वही कल्पना का सबसे प्रधान कार्य-क्षेत्र है। किन्तु वहाँ उसे यों ही उड़ान भरना नहीं होता; उसे अनुभूति या रागात्मिका वृत्ति के आदेश पर चलना पड़ता है। उसे ऐसे स्वरूप खड़े करने पड़ते हैं, जिनके द्वारा रति, हास, शोक, क्रोध इत्यादि का स्वयं अनुभव करने के कारण कवि जानता है कि श्रोता या

पाठक भी उनका वैसा ही अनुभव करेंगे। अपनी अनुभूति की व्यापकता के कारण मनुष्य-मात्र की अनुभूति तथा उसके विषयों को अपने हृदय में रखनेवाले ही ऐसे स्वरूपों को अपने मन में ला सकते हैं, और कवि कहे जाने के अधिकारी बन सकते हैं।

किसी भाव के संबंध में दो पक्ष होते हैं—

(१) आलंबन (भाव का विषय)

(२) आश्रय (भाव का अनुभव करनेवाला)

इनमें से प्रथम तो मनुष्य से लेकर कीट, पतंग, वृक्ष, नदी, पर्वत आदि सृष्टि का कोई भी पदार्थ हो सकता है। किंतु दूसरा हृदय-संपन्न मनुष्य ही होता है। प्राचीन कविगण इन दोनों का स्वरूप प्रतिष्ठित करने में—इनका बिंब-ग्रहण कराने में—कल्पना का पूरा-पूरा उपयोग करते थे। वाल्मीकीय रामायण को मैं प्राचीन आर्य-काव्य का आदर्श मानता हूँ। उसमें राम के रूप, गुण, शील, स्वभाव तथा रावण की विरूपता, अनीति, अत्याचार आदि का पूरा चित्रण तो मिलता ही है, साथ ही अयोध्या, चित्रकूट, दंडकारण्य आदि का चित्र भी पूरे ब्योरे के साथ सामने आता है। इन स्थलों के वर्णन में हमें हाट, बाट, वृक्ष, वन, पर्वत, नदी, निर्झर, ग्राम, जनपद इत्यादि न-जाने कितने पदार्थों का प्रत्यक्षीकरण मिलता है।

साहित्य के आचार्यों की दृष्टि में वन, उपवन, ऋतु आदि शृङ्गार के 'उद्दीपन' मात्र हैं; वे केवल नायक या नायिका को हँसाने या रुलाने के लिये हैं। जब यही बात है, तब फिर इनका संश्लिष्ट चित्रण करके श्रोता को 'बिंब-ग्रहण' कराने से क्या प्रयोजन? इनके नाम गिनाकर अर्थ ग्रहण करा दिया, बस, हो गया। पर सोचने की बात है कि क्या प्राचीन कवियों ने इनका वर्णन इसी रूप में किया है? क्या विश्व-हृदय वाल्मीकि ने वनों और नदियों आदि का वर्णन इसी उद्देश्य से किया है? क्या महाकवि कालिदास ने कुमारसंभव के आरंभ में ही हिमालय का जो विशद वर्णन किया है, वह केवल शृङ्गार के उद्दीपन की दृष्टि से? कभी नहीं। ये वर्णन पहले तो प्रसंग-प्राप्त हैं, अर्थात् आलंबन की परिस्थिति को अंकित करनेवाले हैं। इनके बिना आश्रय और आलंबन शून्य में खड़े मालूम होते हैं। इस पर यों गौर कीजिए। राम और

लक्ष्मण के दो चित्र आपके सामने हैं। एक में केवल दो मूर्त्तियों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, और दूसरे में पयस्विनी के द्रुमलताच्छादित तट पर, पर्ण-कुटी के सामने, दोनों भाई बैठे हैं। इनमें से दूसरा चित्र परिस्थिति को लिए हुए है, इससे उसमें हमारे भावों के लिये अधिक विस्तृत आलंबन है। हमारी परिस्थिति हमारे जीवन का आलंबन है, अतः उपचार से वह हमारे भावों का भी आलंबन है। उसी परिस्थिति में—उसी संसार में—उन्हीं दृश्यों के बीच, जिनमें हम रहते हैं, राम-लक्ष्मण को पाकर हम उनके साथ तादात्म्य-संबंध का अधिक अनुभव करते हैं, जिससे 'साधारणीकरण' पूरा-पूरा होता है।

पर प्राकृतिक वर्णन केवल अंग-रूप से ही हमारे भावों के आलंबन नहीं हैं, स्वतंत्र-रूप में भी हैं। जिन प्राकृतिक दृश्यों के बीच हमारे आदिम पूर्वज रहे, और अब भी मनुष्य-जाति का अधिकांश (जो नगरों में नहीं आ गया है) अपनी आयु व्यतीत करता है, उनके प्रति प्रेम-भाव, पूर्व-साहचर्य के प्रभाव से, संस्कार या वासना के रूप में, हमारे अंतःकरण में निहित है। उनके दर्शन या काव्य आदि में प्रदर्शन से हमारी भीतरी प्रकृति का जो अनु-रंजन होता है, वह अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। इस अनुरंजन को केवल किसी दूसरे भाव का आश्रित या उत्तेजक कहना अपनी जड़ता का ढिंढोरा पीटना है। जो प्राकृतिक दृश्यों को केवल कामोद्दीपन की सामग्री समझते हैं, उनकी रुचि भ्रष्ट हो गई है, और संस्कार-सापेक्ष है। मैंने पहाड़ों पर या जंगलों में घूमते समय बहुत-से ऐसे साधु देखे हैं, जो लहराते हुए हरे-भरे जंगलों, स्वच्छ शिलाओं पर चाँदी-से ढलते हुए झरनों, चौकड़ी भरते हुए हिरनों और जल को झुककर चूमती हुई डालियों पर कलरव कर रहे विहंगों को देख मुग्ध हो गए हैं। काले मेघ जब अपनी छाया डालकर चित्रकूट के पर्वतों को नील-वर्ण कर देते हैं, तब नाचते हुए नीलकंठों (मोरों) को देखकर सभ्यताभिमान के कारण शरीर चाहे न नाचे, पर मन अवश्य नाचने लगता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि ऐसे दृश्यों को देखकर हर्ष होता है। हर्ष एक संचारी भाव है। इसलिये यह मानना पड़ेगा कि उसके मूल में रति-भाव वर्तमान है, और वह रतिभाव उन दृश्यों के प्रति है।

रीति-ग्रंथों की बदौलत रस-दृष्टि परिमित हो जाने से उसके संयोजक

विषयों में से कुछ तो 'उद्दीपन' में डाल दिए गए और कुछ 'भावक्षेत्र' से ही निकाले जाकर 'अलंकार' के हाते में हाँक दिए गए। इसी व्यवस्था के अनुसार वस्तुओं के स्वाभाविक रूप और क्रिया का वर्णन 'स्वभावोक्ति' अलंकार हो गया। जैसे लड़कों का खेलना, चीते का पूँछ पटककर झपटना, हाथी का गंड स्थल रगड़ना इत्यादि। पर मैं इन्हें प्रस्तुत विषय मानता हूँ; जिन पर अप्रस्तुत विषयों का उत्प्रेक्षा आदि द्वारा आरोप हो सकता है। वात्सल्य रति-भाव के प्रदर्शन में यदि बच्चे की क्रीड़ा का वर्णन हो, तो क्या वह अलंकार-मात्र होगा? प्रस्तुत वर्ण्य विषय अलंकार नहीं कहा जा सकता। वह स्वयं रस के संयोजकों में से है; उसकी शोभा-मात्र बढ़ानेवाला नहीं। मैं अलंकार को केवल वर्णन-प्रणाली-मात्र मानता हूँ; जिसके अंतर्गत करके चाहे किसी वस्तु का वर्णन किया जा सकता है। वस्तु-निर्देश अलंकार का काम नहीं। सारांश यह कि 'स्वभावोक्ति' अलंकार नहीं है, और इसी से उसका ठीक-ठीक लक्षण भी स्थिर नहीं हो सका है।

मनुष्य, शेष प्रकृति के साथ अपने रागात्मक संबंध का विच्छेद करने से, अपने अनंद की व्यापकता को नष्ट करता है। बुद्धि की व्याप्ति के लिये मनुष्य को जिस प्रकार विस्तृत और अनेक-रूपात्मक क्षेत्र मिला है, उसी प्रकार "भावों" (मन के वेगों) की व्याप्ति के लिये भी। अब यदि आलस्य या प्रमाद के कारण मनुष्य इस द्वितीय क्षेत्र को संकुचित कर लेगा, तो उसका आनंद पशुओं के आनंद से विशाल किसी प्रकार नहीं कहा जा सकेगा। अतः यह सिद्ध हुआ कि वन, पर्वत, नदी, निर्झर, पशु, पक्षी, खेत-बारी इत्यादि के प्रति हमारा प्रेम स्वाभाविक है, या कम-से-कम वासना के रूप में अंतःकरण में निहित है।

प्रेम की प्रतिष्ठा दो प्रकार से होती है—(१) सुन्दर रूप के अनुभव द्वारा, और (२) साहचर्य द्वारा। सुन्दर रूप के आधार पर जो प्रेम-भाव या लोभ (मेरे मानस-कोश में दोनों का अर्थ प्रायः एक ही निकलता है) प्रतिष्ठित होता है, उसका हेतु संलक्ष्य होता है; और, जो केवल साहचर्य के प्रभाव से अंकुरित और पल्लवित होता है, वह एक प्रकार से हेतु-ज्ञान-शून्य होता है। यदि हम किसी किसान को उसकी झोपड़ी से हटाकर, किसी दूर देश में ले

जाकर, राजभवन में टिका दें, तो वह उस झोपड़ी का, उसके छप्पर पर चढ़ी हुई कुम्हड़े की बेल का, सामने के नीम के पेड़ का, द्वार पर बँधे हुए चौपायों का ध्यान करके आँसू बहाएगा। वह यह कभी नहीं समझता कि मेरा झोपड़ा इस राजभवन से सुंदर था; परंतु फिर भी झोपड़े का प्रेम उसके हृदय में बना हुआ है। यह प्रेम रूप-सौंदर्यगत नहीं है; सच्चा, स्वाभाविक और हेतु-ज्ञान-शून्य प्रेम है। इस प्रेम को रूप-सौंदर्यगत प्रेम नहीं पहुँच सकता।

इससे यह स्पष्ट है कि अपने सुख-विलास के अथवा शोभा और सजावट की अपनी रचनाओं के आदर्श को लेकर जो प्रकृति के क्षेत्र का अवलोकन करते हैं, और अपना प्रेमानंद केवल इन शब्दों में प्रकट करते हैं कि "अहा-हा! यह मैदान कैसा बेलबूटेदार क़ालीन की तरह फैला हुआ है, पेड़ किस प्रकार यहाँ से वहाँ तक एक पंक्ति में चले गए हैं, लताओं का कैसा सुंदर मंडप-सा बन गया है, कैसी शीतल, मंद, सुगंध हवा चल रही है", उनका प्रेम कोई प्रेम नहीं—उसे अधूरा समझना चाहिए। वे प्रकृति के सच्चे उपासक नहीं। वे तमाशबीन हैं, और केवल अनोखापन, सजावट या चमत्कार देखने निकलते हैं। उनका हृदय मनुष्य-प्रवर्तित व्यापारों में पड़कर इतना कुंठित हो गया है कि उसमें, उन सामान्य प्राकृतिक परिस्थितियों में, जिनमें अत्यंत आदिम काल में मनुष्य-जाति ने अपना जीवन व्यतीत किया था, तथा उन प्राचीन मानव-व्यापारों में, जिनमें वन्य दशा से निकलकर वह अपने निर्वाह और रक्षा के लिये लगी, लीन होने की वृत्ति दब गई। अथवा यों कहिए कि उनमें करोड़ों पीढ़ियों को पार करके आनेवाली अंतस्संज्ञावर्तिनी वह अव्यक्त स्मृति नहीं रह गई, जिसे वासना या संस्कार कहते हैं। वे तड़क-भड़क, सजावट, रंगों की चमक-दमक, कलाओं की बारीकी पर भले ही मुग्ध हो सकते हों, पर सच्चे सहृदय नहीं कहे जा सकते।

कँकरीले टीलों, ऊसर पटपरों, पहाड़ के ऊबड़-खाबड़ किनारों या बबूल करौंदे के झाड़ों में क्या आकर्षित करनेवाली कोई बात नहीं होती? जो फ़ारस की चाल के बग़ीचों के गोल चौखूंटे कटाव, सीधी-सीधी रविशें, मेहँदी के बने भद्दे हाथी-घोड़े, काट-छाँटकर सुडौल किए हुए सरो के पेड़ों की क़तारें, एक पंक्ति में फूले हुए गुलाब आदि देखकर ही वाह-वाह करना जानते हैं,

उनका साथ सच्चे भावुक सहृदयों को वैसा ही दुःखदायी होगा, जैसा सज्जनों को खलों का। हमारे प्राचीन पूर्वज भी उपवन और वाटिकाएँ लगाते थे। पर उनका आदर्श कुछ और था। उनका आदर्श वही था, जो अब तक चीन और योरप में थोड़ा बहुत बना हुआ है। आजकल के पार्कों में हम भारतीय आदर्श की छाया पाते हैं। हमारे यहाँ के उपवन वन के प्रतिरूप ही होते थे। जो वनों में जाकर प्रकृति का शुद्ध स्वरूप और उसकी स्वच्छंद क्रीड़ा नहीं देख सकते थे; वे उपवनों में ही जाकर उसका थोड़ा बहुत अनुभव कर लेते थे। वे सर्वत्र अपने को ही नहीं देखना चाहते थे। पेड़ों को मनुष्य की क़वायद करते देखकर ही जो मनुष्य प्रसन्न होते हैं, वे अपना ही रूप सर्वत्र देखना चाहते हैं; अहंकार बश अपने से बाहर प्रकृति की ओर देखने की इच्छा नहीं करते।

काव्य का जो चरम लक्ष्य सर्वभूत को आत्मभूत कराके अनुभव कराना है (दर्शन के समान केवल ज्ञान कराना नहीं), उसके साधन में भी अहंकार का त्याग आवश्यक है। जब तक इस अहंकार से पीछा न छूटेगा, तब तक प्रकृति के सब रूप मनुष्य की अनुभूति के भीतर नहीं आ सकते। खेद है कि फ़ारस की उस महफ़िली शायरी का कुसंस्कार भारतीयों के हृदय में भी इधर बहुत दिनों से जम रहा है, जिसमें चमन, गुल, बुलबुल, लाला, नरगिस आदि का ही कुछ वर्णन विलास की सामग्री के रूप में होता है—कोह, बयाबान आदि का उल्लेख किसी भारी विपत्ति या दुर्दिन के ही प्रसंग में मिलता है। फ़ारस में क्या और पेड़-पौदे नहीं होते? पर उनसे वहाँ के शायरों को कोई मतलब नहीं। अलबुर्ज-जैसे सुंदर पहाड़ का विशद वर्णन किस फ़ारसी-काव्य में है? पर इधर वाल्मीकि को देखिए। उन्होंने प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में केवल मंजरियों से छाए हुए रसालों, सुरभित सुमनों से लदी हुई मालती-लताओं, मकरंद-पराग-पूरित सरोजों का ही वर्णन नहीं किया, इंगुदी, अंकोट, तेंदू, बबूल और बहेड़े आदि जंगली पेड़ों का भी पूर्ण तल्लीनता के साथ वर्णन किया है। इसी प्रकार योरप के कवियों ने भी अपने गाँव के पास से बहते हुए नाले के किनारे उगने वाली झाड़ी या घास तक का नाम आँखों में आँसू भरकर लिया है। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य को उसके व्यापार-गर्त से बाहर

प्रकृति के विशाल और विस्तृत क्षेत्र में जाने की शक्ति फ़ारस की परिमित काव्य-पद्धति में नहीं है—भारत और योरप की पद्धति में है।

स्वाभाविक सहृदयता केवल अद्‌भुत, अनूठी, चमत्कार-पूर्ण, विशद या असाधारण वस्तुओं पर मुग्ध होने में ही नहीं है। जितने आदमी भेड़ाघाट, गुलमर्ग आदि देखने जाते हैं, वे सब प्रकृति के सच्चे आराधक नहीं होते; अधिकांश केवल तमाशबीन होते हैं। केवल असाधारणत्व के साक्षात्कार की यह रुचि स्थूल और भद्दी है. और हृदय के गहरे तलों से संबंध नहीं रखती। जिस रुचि से प्रेरित होकर लोग आतशबाज़ी, जलूस वग़ैरह देखने दौड़ते हैं, यह वही रुचि है। काव्य में इसी असाधारणत्व और चमत्कार की ओछी रुचि के कारण बहुत-से लोग अतिशयोक्ति-पूर्ण अशक्त वाक्यों में ही काव्यत्व समझने लगे। कोई बिहारी के विरह-वर्णन पर सिर हिलाता है, कोई 'यार' की कमर ग़ायब होने पर वाह-वाह करता है। कालिदास ने अत्यंत प्राकृतिक ढंग से रथ को धूल के आगे निकाला, तो भूषण ने घोड़े को छोड़े हुए तीर से एक तीर आगे कर दिया। पर मुबालग़ा जहाँ हद से ज़्यादा बढ़ा कि मज़ाक हुआ। खेद है कि उर्दू की शायरी ऐसे ही मज़ाक की सूरत में आ गई।

'अनूठी बात' सुनने की उत्कंठा रखने वाले जब काव्य-रसिक समझे जाने लगे तब नारायण पण्डित-जैसे लोगों को सर्वत्र अद्भुत रस दिखाई देने लगा। उन्होंने कह ही डाला कि—

रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्‌भुतो रसः॥

भावों का उत्कर्ष दिखाने के लिए काव्य में कहीं-कहीं असाधारणत्व अवश्य अपेक्षित होता है, पर उतनी ही मात्रा में, जितनी से प्रकृत भाव दबने न पाए। इस उत्कर्ष के लिए कहीं-कहीं असाधारणत्व पहले आलंबन में अधिष्ठित होकर भाव के उत्कर्ष का कारण-स्वरूप होता है। पर यह कहा जा चुका है कि भावों के उत्कर्ष के लिए भी सर्वत्र आलंबन का असाधारणत्व अपेक्षित नहीं होता। साधारण से साधारण वस्तु हमारे गंभीर से गंभीर भावों का आलंबन हो सकती है। साहचर्य-जन्य प्रेम कितना बलवान् होता है, उसमें

वृत्तियों को तल्लीन करने की कितनी शक्ति होती है, यह सब लोग जानते हैं; पर वह असाधारणत्व पर अवलंबित नहीं होता। जिनका हमारा लड़कपन में साथ रहा है, जिन पेड़ों के नीचे, जिन टीलों पर, जिन नदी-नालों के किनारे, हम अपने साथियों को लेकर बैठा करते थे, उनके प्रति हमारा प्रेम जीवन-भर स्थायी होकर बना रहता है। अतः चमत्कारवादियों की यह समझ ठीक नहीं कि जहाँ असाधारणत्व होता है, वहीं रस का परिपाक होता है, अन्यत्र नहीं।

प्रसंग-प्राप्त साधारण, असाधारण सभी वस्तुओं का वर्णन कवि का कर्तव्य है। काव्य-क्षेत्र अजायबखाना या नुमाइशगाह नहीं है। जो सच्चा कवि है, उसके द्वारा अंकित साधारण वस्तुएँ भी मन को तल्लीन करने वाली होती हैं। साधारण के बीच में यथास्थान असाधारण की योजना करना सहृदय और कला-कुशल कवि का ही काम है। साधारण, असाधारण, अनेक वस्तुओं के मेल से एक विस्तृत और पूर्ण चित्र संघटित करने वाले ही कवि कहे जाने के अधिकारी हैं। साधारण के बीच में ही असाधारण की प्रकृत अभिव्यक्ति हो सकती है। साधारण से ही असाधारण की सत्ता है। अतः केवल वस्तु के असाधारणत्व या व्यंजन-प्रणाली के असाधारणत्व में ही काव्य समझ बैठना अच्छी समझदारी नहीं।

सारांश यह कि केवल असाधारणत्व-दर्शन की रुचि सच्ची सहृदयता की पहचान नहीं है। शोभा और सौंदर्य की भावना के साथ-साथ, जिनमें मनुष्य-जाति के उस समय के पुराने सहचरों की वंश-परंपरागत स्मृति वासना रूप में बनी हुई है, जब वह प्रकृति के खुले क्षेत्र में विचरती थी, वे ही पूरे सहृदय कहे जा सकते हैं। पहले कह आए हैं कि वन्य और ग्रामीण, दोनों प्रकार के जीवन प्राचीन हैं, दोनों पेड़-पौदों, पशु-पक्षियों, नदी-नालों और पर्वत-मैदानों के बीच व्यतीत होते हैं, अतः प्रकृति के अधिक रूपों के साथ संबंध रखते हैं। हम पेड़-पौदों और पशु-पक्षियों से सम्बन्ध तोड़कर नगरों में आ बसे; पर उनके बिना रहा नहीं जाता। हम उन्हें हर वक्त पास न रख कर एक घेरे में बन्द करते हैं, और कभी-कभी मन बहलाने को उनके पास चले जाते हैं। हमारा साथ उनसे भी छोड़ते नहीं बनता। कबूतर हमारे घर के छज्जों में सुख से सोते हैं—

तां कस्यांचिद् भवनवलभौ सुप्तपारावतायां
नीत्वा रात्रिं चिरविलसनात्खिन्नविद्युत्कलत्रः ।

गौरे हमारे घर के भीतर आ बैठते हैं, बिल्ली अपना हिस्सा या तो म्याऊँ-म्याऊँ करके माँगती है या चोरी से ले जाती है, कुत्ते घर की रखवाली करते हैं और वासुदेवजी कभी-कभी दीवार फोड़कर निकल पड़ते हैं। बरसात के दिनों में जब सुर्खी-चूने की कड़ाई की पर्वा न करके हरी-हरी घास पुरानी छत पर निकल पड़ती है, तब मुझे उसके प्रेम का अनुभव होता है। वह मानों हमें ढूँढ़ती हुई आती है, और कहती है कि तुम मुझसे क्यों दूर-दूर भागे फिरते हो ?

वनों, पर्वतों, नदी-नालों, कछारों, पटपरों, खेतों, खेतों की नालियों, घास के बीच से गई हुई दुर्रियों, हल-बैलों, झोपड़ों और श्रम में लगे हुए किसानों इत्यादि में जो आकर्षण हमारे लिए है, वह हमारे अंतःकरण में निहित वासना के कारण है, असाधारण चमत्कार या अपूर्व शोभा के कारण नहीं। जो केवल पावस की हरियाली और वसंत के पुष्प-हास के समय ही वनों और खेतों को देखकर प्रसन्न हो सकते हैं, जिन्हें केवल मंजरी-मंडित रसालों, प्रफुल्ल कदंबों और सघन मालती-कुञ्जों का ही दर्शन प्रिय लगता है, ग्रीष्म के खुले हुए पटपर खेत और मैदान शिशिर की पत्र-विहीन नंगी वृक्षा-वली और झाड़-बबूल आदि जिनके हृदय को कुछ भी स्पर्श नहीं करते, उनकी प्रवृत्ति राजसी समझनी चाहिए। वे केवल अपने विलास या सुख की सामग्री प्रकृति में ढूँढ़ते हैं। उनमें उस 'सत्त्व' की कमी है, जो सत्ता-मात्र के साथ एकीकरण की अनुभूति द्वारा लीन करके आत्मसत्ता के विभुत्व का आभास देती है। संपूर्ण सत्ता, क्या भौतिक क्या आध्यात्मिक, एक ही परम सत्ता या परम भाव के अंतर्गत है। अत: ज्ञान या तर्क-बुद्धि द्वारा हम जिस अद्वैत भाव तक पहुँचते हैं उसी भाव तक इस 'सत्त्व' गुण के बल पर हमारी रागात्मिका वृत्ति भी पहुँचती है। इस प्रकार अंततः दोनों वृत्तियों का समन्वय हो जाता है। यदि हम ज्ञान द्वारा सर्वभूत को आत्मवत् जान सकते हैं, तो रागात्मिका वृत्ति द्वारा उसका अनुभव भी कर सकते हैं। तर्क-बुद्धि से हारकर परम ज्ञानी भी इस 'स्वानुभूति' का आश्रय लेते हैं। अतः परमार्थ-दृष्टि से

दर्शन और काव्य, दोनों, अंतःकरण की भिन्न-भिन्न वृत्तियों का आश्रय लेकर, एक ही लक्ष्य की ओर ले जाने वाले हैं। इस व्यापक दृष्टि से काव्य का विवेचन करने से लक्षण-ग्रंथों में निर्दिष्ट संकीर्णता कहीं-कहीं बहुत खटकती है। वन, उपवन, चाँदनी इत्यादि को दांपत्य रति के उद्दीपन-मात्र मानने से संतोष नहीं होता।

पहले कहा जा चुका है कि रस के संयोजक जो विभाव आदि हैं, वे ही कल्पना के प्रधान क्षेत्र हैं। कवि का पूर्ण विकास उन्हीं में देखना चाहिए। पर वहाँ कल्पना को कवि की अनुभूति के आदेश पर चलना पड़ता है, उसकी श्रेष्ठता कवि की सहृदयता से सम्बन्ध रखती है, अतः उस कृत्रिमता के काल में, जिसमें कविता केवल अभ्यासगम्य समझी जाने लगी, कल्पना का प्रयोग काव्य का प्रकृत स्वरूप संगठित करने में कम होकर अलंकार आदि बाह्य आडंबर फैलाने में अधिक होने लगा। पर विभावन द्वारा जब वस्तु-प्रतिष्ठा पूर्ण रूप से हो ले, तब आगे और कुछ होना चाहिए। विभाव वस्तु-चित्र-मय होता है; अतः जहाँ वस्तु श्रोता या पाठक के भावों का आलंबन होती है, वहाँ अकेला उसका पूर्ण चित्रण ही काव्य कहलाने में समर्थ हो सकता है। पिछले कवियों में इस वस्तु-चित्र का विस्तार क्रमशः कम होता गया। प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण में वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति आदि सच्चे कवियों की कल्पना ऐसे रूपों की योजना करने में, ऐसी वस्तुएँ इकट्ठी करने में, प्रयुक्त होती थी, जिनसे किसी स्थल का चित्र पूरा होता था, और जो श्रोता के भाव का स्वयं आलंबन होती थीं। वे जिन दृश्यों को अंकित कर गए हैं, उनके ऐसे ब्योरों को उन्होंने सामने रक्खा है, जिनसे एक भरा-पूरा चित्र सामने आता है। ऐसे दृश्य अंकित करने के लिए प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण की आवश्यकता होती है, उसके स्वरूप में इस प्रकार तल्लीन होना पड़ता है कि एक-एक ब्योरे पर ध्यान जाय। उन्हें इस बात का अनुभव रहता था कि कल्पना के सहारे चित्र के भीतर एक-एक वस्तु और व्यापार का संश्लिष्ट-रूप में भरना जितना ज़रूरी है, उतना उपमा आदि ढूँढ़ना नहीं। इसी से उनके चित्र भरे-पूरे हैं। और इधर के कवियों ने जहाँ परम्परा-पालन के लिए ऐसे चित्र खींचे भी हैं, वहाँ वे पूर्ण चित्र क्या, चित्र भी नहीं हुए हैं, उनके

चित्र (यदि चित्र कहे जा सकें) ऐसे ही हुए हैं, जैसा किसी चित्रकार का अधूरा छोड़ा हुआ चित्र; जिसमें कहीं एक रेखा यहाँ लगी है, कहीं वहाँ; कहीं कुछ रङ्ग भरा जा सका है, कहीं जगह खाली है। चित्रकला के प्रयोगों द्वारा इस बात की परीक्षा हो सकती है। वाल्मीकि के वर्षावर्णन को लीजिए, और जो-जो वस्तुएँ आती जायँ, उनकी आकृति ऐसी सावधानी से अंकित करते चलिए कि कोई वस्तु छूटने न पावे। फिर गोस्वामी तुलसीदासजी का भागवत से लिया गया वर्षा-वर्णन लेकर ऐसा ही कीजिए, और दोनों चित्रों को इस बात का ध्यान रखकर मिलाइए कि ये किष्किंधा की पर्वत-स्थली के चित्र हैं।

आदि-कवि का कैसा सूक्ष्म प्रकृति-निरीक्षण है, वस्तुओं और व्यापारों की कैसी संश्लिष्ट योजना है, उन्होंने किस प्रकार एक-एक पेचीले ब्यौरे पर ध्यान दिया है, यह दिखाने के लिए नीचे कुछ पद्य दिए जाते हैं—

व्यामिश्रितं सर्जकदंबपुष्पै-
नवं जलं पर्वतधातुताम्रम्।
मयूरकेकाभिरनुप्रयातं
शैलापगाः शीघ्रतरं वहंति॥
रसाकुलं षट्पदसन्निकाशं
प्रभुज्यते जंबुफलं प्रकामम्।
अनेकवर्णं पवनावधूतं
भूमौ पतत्याम्रफलं विपक्वम्॥
मुक्तासकाशं सलिलं पतद्वै
सुनिर्मलं पत्रपुटेषु लग्नम्।
हृष्टा विवर्णच्छदना विहंगाः
सुरेन्द्रदत्तं तृषिताः पिबंति॥*

*पर्वत की नदियाँ सर्ज और कदंब के फूलों से मिश्रित पर्वत-धातुओं (गेरू) से लाल, नए गिरे जल से कैसी शीघ्रता से बह रही हैं, जिनके साथ मोर बोल रहे हैं। रस से भरे, भौंरों के समान, काले-काले जामुन के फलों को लोग खा रहे हैं। अनेक रंग के पके आम के फल वायु के झोंके से टूटकर भूमि पर गिरते हैं। प्यासे

अब पंचवटी में लक्ष्मण हेमंत का कैसा दृश्य देख रहे हैं, उसका एक छोटा-सा नमूना लीजिए—

अवश्यायनिपातेन किंचित्प्रक्लिन्नशाद्वला ।
वनानां शोभते भूमिर्निविष्टतरुणातपा ॥
स्पृशंस्तु विपुलं शीतमुदकं द्विरदः सुखम् ।
अत्यंततृषितो वन्यः प्रतिसंहरते करम् ॥
अवश्याय तमोनद्धा नीहारतमसावृताः ।
प्रसुप्ता इव लक्ष्यंते विपुष्पा वनराजयः ॥
बाष्पसंछन्नसलिला रुतविज्ञेयसारसाः ।
हिमार्द्रबालुकैस्तीरैः सरितो भांति सांप्रतम् ॥
जराजर्जरितैः पद्मैः शीर्णकेसरकर्णिकैः ।
नालशेषैर्हिमध्वस्तैर्न भांति कमलाकराः ॥ (अरण्य १६ सर्ग)†

महाकवि कालिदास ने भी जहाँ स्थल-वर्णन को सामने रखकर दृश्य अंकित किया है वहाँ उनका निरीक्षण अत्यंत सूक्ष्म है—

आमेखलं संचरतां घनानां
छायामधःसानुगतां निषेव्य ।
उद्वेजिता वृष्टिभिराश्रयंते
शृङ्गाणि यस्यातपवंति सिद्धाः ॥

पक्षी, जिनके पंख पानी से बिगड़ गए हैं, मोती के समान इंद्र के दिए हुए जल को, जो पत्तों की नोक पर लगा हुआ है, हर्षित होकर पी रहे हैं।

† वन की भूमि, जिसकी हरी-हरी घास पाला गिरने से कुछ-कुछ गीली हो गई है, नई धूप पड़ने से कैसी शोभा दे रही है। अत्यन्त प्यासा जंगली हाथी बहुत शीतल जल के स्पर्श से अपनी सूंड़ सिकोड़ता है। बिना फूल के वन-समूह कुहरे के अंधकार में सोए से जान पड़ते हैं। नदियाँ, जिनका जल कुहरे से ढका हुआ है और जिनमें के सारस पक्षी केवल शब्द से जाने जाते हैं, हिम से आर्द्र बालू के तटों से ही पहचानी जाती हैं। कमल, जिनके पत्ते जीर्ण होकर झड़ गए हैं, जिनकी केसर और कर्णिका टूट-फूटकर छितरा गई हैं, पाले से ध्वस्त होकर नालमात्र खड़े हैं।

कपोलकंडूः करिभिर्विनेतुं
विघट्टितानां सरलद्रुमाणाम्।
यत्र स्रुतक्षीरतया प्रसूतः
सानूनि गंधः सुरभीकरोति॥
भागीरथीनिर्झरसीकराणां
वोढा मुहुःकंपितदेवदारुः।
यद्वायुरन्विष्टमृगैः किरातै-
रासेव्यते भिन्नशिखंडिबर्हः॥*

उपमाएँ देने में कालिदास अद्वितीय समझे जाते हैं, पर वस्तु-चित्र को उपमा आदि का अधिक बोझ लादकर उन्होंने भद्दा नहीं किया। उनका मेघदूत—विशेष कर पूर्वमेघ—तो यहाँ से वहाँ तक एक मनोहर चित्र ही है। ऐसा काव्य तो संस्कृत क्या, किसी भाषा में भी शायद ही हो। जिनमें ऐतिहासिक सहृदयता है, देश के प्रकृत स्वरूप के साथ जिनके हृदय का सामंजस्य है, मेघदूत उनके लिए भावों का भरा-पूरा भंडार है। जिसकी रुचि भ्रष्ट हो गई है, जो सर्वत्र उपमा, उत्प्रेक्षा ही ढूँढ़ा करते हैं, जो "अनूठी उक्तियों" पर ही वाह-वाह किया करते हैं, उनके लिए चाहे उसमें कुछ भी न हो।

कालिदास ने वन-श्री, पुर की शोभा आदि का ही वर्णन एक-एक ब्यौरे पर दृष्टि ले जाकर नहीं किया, उजाड़ खँड़हरों का भी ऐसा ही वर्णन किया है, उनका ऐसा स्वरूप सामने रक्खा है, जिसे अतीत स्वरूप के साथ

---

* मेखला तक घूमनेवाले मेघों के नीचे के शिखरों में प्राप्त छाया को सेवन करके वृष्टि से काँपे हुए सिद्ध लोग जिसके धूपवाले शिखरों का सेवन करते हैं। जिस (हिमालय) में कपोलों की खुजली मिटाने के लिए हाथियों के द्वारा रगड़े गए सरल (सलई) के पेड़ों से टपके हुए दूध से उत्पन्न सुगंध शिखरों को सुगंधित करती है। गङ्गा के झरने के कणों को ले जानेवाला, बार-बार देवदारु के पेड़ों को कँपानेवाला, मयूरों की पूँछों को छितरानेवाला जिसका पवन मृगों के ढूँढ़नेवाले किरातों द्वारा सेवन किया जाता है।

मिलाने पर करुणा का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। कुश जब कुशावती में आकर राज्य करने लगे, तब अयोध्या उजड़ गई। एक दिन रात को अयोध्या की अधिदेवता स्त्री का रूप धरकर उनके पास गई, और अयोध्या की हीन दशा का अत्यंत मर्मस्पर्शी शब्दों में वर्णन किया। उस प्रसंग के केवल दो श्लोक नीचे दिए जाते हैं; जिनसे सारे वर्णन का अनुमान पाठक कर लेंगे—

कालांतरश्यामसुधेषु नक्तम्
इतस्ततो रूढतृणांकुरेषु।
त एव मुक्तागुणशुद्धयोऽपि
हर्म्येषु मूर्च्छंति न चंद्रपादाः॥
रात्रावनाविष्कृतदीपभासः
कांतामुखश्रीवियुता दिवापि।
तिरस्क्रियंते कृमितंतुजालै-
र्विच्छिन्नधूमप्रसरा गवाक्षाः॥ †

भाव-मूर्ति भवभूति ने यद्यपि शब्दालंकार की ओर अधिक रुचि दिखाई, पर प्रकृति के रूप-माधुर्य की ओर उनका पूर्ण ध्यान रहा। नाटक में स्थल-चित्रण के लिए पूर्ण अवकाश न होने पर भी उन्होंने बीच-बीच में उसकी जो झलक दिखाई, उससे वन्य प्राकृतिक दृश्यों का गूढ़ अनुराग लक्षित होता है। खेद है कि जिस कल्पना का उपयोग मुख्यतः पदार्थों का रूप संघटित करने, प्राकृतिक व्यापारों को प्रत्यक्ष करने और इस प्रकार किसी दृश्य-खंड के ब्योरे पूरे करने में होना चाहिए था, उसका प्रयोग पिछले कवियों ने उपमा, उत्प्रेक्षा, दृष्टांत आदि की उद्भावना करने में ही अधिक किया। महाकवि माघ प्रबंध-रचना में जैसे कुशल थे, वैसे ही उसके पक्षपाती भी थे; पर उनकी प्रवृत्ति

† समय के फेर से काले पड़े हुए चूनेवाले मंदिरों में, जिनमें इधर-उधर घास के अंकुर उगे हैं, रात्रि के समय मोती की माला के समान वे चन्द्र-किरणें अब प्रकाश नहीं करतीं। रात्रि में दीपक के प्रकाश से रहित, और दिन में स्त्रियों के मुख की कांति से शून्य, जिनमें से धुएँ का निकलना बंद हो गया है, ऐसे झरोखे मकड़ियों के जालों से ढक गए हैं।

हम प्रस्तुत वस्तु-विन्यास की ओर कम और अलंकार-योजना की ओर अधिक पाते हैं। उनके दृश्य-वर्णन में वाल्मीकि आदि प्राचीन कवियों का-सा प्रकृति का रूप-विश्लेषण नहीं है, उपमा, उत्प्रेक्षा, दृष्टांत, अर्थांतर-न्यास आदि की भरमार है। उदाहरण के लिये उनके प्रभात-वर्णन से कुछ श्लोक दिए जाते हैं—

अरुणजलजराजी मुग्धहस्ताग्रपादा
बहुलमधुपमाला कज्जलेंदीवराक्षी ।
अनुपतति विरावैः पत्त्रिणां व्याहरंती
रजनिमचिरजाता पूर्वसंध्या सुतेव ॥
विततपृथुवरत्रातुल्यरूपैर्मयूखैः
कलश इव गरीयान् दिग्भिराकृष्यमाणः ।
कृतचपलविहंगालापकोलाहलाभि-
र्जलनिधिजलमध्यादेष उत्तार्यतेऽर्कः ॥
व्रजति विषयमक्ष्णामंशुमाली न यावत्
तिमिरमखिलमस्तं तावदेवाऽरुणेन ।
परपरिभवितेजस्तन्वतामाशु कर्तुं
प्रभवति हि विपक्षोच्छेद मग्रेसरोऽपि ॥*

इस वर्णन में यह स्पष्ट लक्षित होता है कि कवि को दृश्य की एक-सूक्ष्म

---

* अरुण कमल-रूपी कोमल हाथ-पैरवाली, मधुपमाला-रूपी कज्जल-युक्त कमल-नेत्रवाली, पक्षियों के कलरव-रूपी रोदनवाली यह प्रभात-बेला सद्योजात बालिका के समान रात्रि-रूपी अपनी माता की ओर लपकी आ रही है। जिस प्रकार घड़ा खींचते समय स्त्रियाँ कुछ कोलाहल करती हैं, उसी प्रकार पक्षियों के कोलाहल से पूर्ण दिशा-रूपी स्त्रियाँ, दूर तक फैली हुई किरण-रूपी रस्सियों से सूर्य-रूपी घड़े को बाँधकर, बड़े भारी कलश के समान समुद्र के भीतर से खींचकर ऊपर निकाल रही हैं। सूर्य के उदय होने से पहले ही सूर्य के साथी अरुण ने सारा अंधकार दूर कर दिया; वैरियों को नष्ट करनेवाले स्वामियों के आगे चलनेवाला सेवक भी शत्रुओं को मार भगाने में समर्थ होता है।

वस्तु और व्यापार प्रत्यक्ष करके चित्र पूरा करने की उतनी चिंता नहीं है, जितनी कि अद्भुत-अद्भुत उपमाओं आदि के द्वारा एक कौतुक खड़ा करने की। पर काव्य कौतुक नहीं है, उसका उद्देश्य गंभीर है।

पाश्चात्य काव्य-समीक्षक किसी वर्णन के ज्ञातृपक्ष (Subjective) और ज्ञेय-पक्ष (Objective)—अथवा विषयि-पक्ष और विषय-पक्ष—दो पक्ष लिया करते हैं। जो वस्तुएँ बाह्य प्रकृति में हम देख रहे हैं, उनका चित्रण ज्ञेय-पक्ष के अंतर्गत हुआ, और उन वस्तुओं के प्रभाव से हमारे चित्त में जो भाव या आभास उत्पन्न हो रहे हैं, वे ज्ञातृपक्ष के अंतर्गत हुए। अतः उपमा, उत्प्रेक्षा आदि के आधिक्य के पक्षपाती कह सकते हैं कि पिछले कवियों के दृश्य-वर्णन ज्ञातृपक्ष-प्रधान हैं। ठीक है; पर वस्तु-विन्यास प्रधान कार्य है। यदि वह अच्छी तरह बन पड़ा, तो पाठक के हृदय में दृश्य के सौंदर्य, भीषणता, विशालता इत्यादि का अनुभव थोड़ा-बहुत आप-से-आप होगा। वस्तुओं के संबंध में इन भावों का ठीक-ठीक अनुभव करने में सहारा देने के लिए कवि कहीं बीच-बीच में अपने अंतःकरण की भी झलक दिखाता चले, तो यहाँ तक ठीक है।

यह झलक दो प्रकार की हो सकती है—भावमय और अपर-वस्तुमय। जैसे, किसी ने कहा—"तालाब के उस किनारे पर खिले कमल कैसे मनोहर लगते हैं!" यहाँ कमलों के दर्शन से सौंदर्य का जो भाव चित्त में उदित हुआ, वह वाच्य द्वारा स्पष्ट कह दिया गया। यही बात यदि यों कही जाय कि "तालाब के उस किनारे पर खिले कमल ऐसे लगते हैं, मानों प्रभात के गगन-तट पर की ललाई," तो सौंदर्य का भाव स्पष्ट न कहा जाकर दूसरी ऐसी वस्तु सामने ला दी गई, जिसके साथ भी वैसे ही सौंदर्य का भाव लगा हुआ है। एक में भाव वाच्य द्वारा प्रकट किया गया दूसरे में अलंकार-रूप गुणीभूत व्यंग्य द्वारा। इससे स्पष्ट है कि दृश्य-वर्णन करते समय कवि उपमा, उत्प्रेक्षा आदि द्वारा वर्ण्य वस्तुओं के मेल में जो दूसरी वस्तुएँ रखता है वह केवल भाव को तीव्र करने के लिए। अतः ये दूसरा वस्तुएँ ऐसी होनी चाहिएँ, जिनसे प्रायः सब मनुष्यों के चित्त में वे ही भाव उदित होते हों जो वर्ण्य वस्तुओं से होते हैं। यों ही खिलवाड़ के लिए बार-बार प्रसंग-प्राप्त वस्तुओं से श्रोता या पाठक का

ध्यान हटाकर दूसरी वस्तुओं की ओर ले जाना, जो प्रसंगानुकूल भाव उद्दीप्त करने में भी सहायक नहीं, काव्य के गांभीर्य और गौरव को नष्ट करना है, उसकी मर्यादा बिगाड़ना है। इसी प्रकार बात-बात में 'अहाहा! कैसा मनोहर है! कैसा आह्लाद-जनक है!' ऐसे भावोद्गार भी भद्देपन से खाली नहीं, और काव्य-शिष्टता के विरुद्ध हैं। तात्पर्य यह कि भावों की अनुभूति में सहायता देने के लिए केवल कहीं-कहीं उपमा, उत्प्रेक्षा आदि का प्रयोग उतना ही उचित है, जितने से बिंब ग्रहण करने में, दृश्य का चित्र हृदयंगम करने में, श्रोता या पाठक को बाधा न पड़े।

जहाँ एक व्यापार के मेल में दूसरा व्यापार रक्खा जाता है, वहाँ या तो (क) प्रथम व्यापार से उत्पन्न भाव को अधिक तीव्र करना होता है, जैसे हिलती हुई मंजरियाँ मानों भौंरों को पास बुला रही हैं; अथवा (ख) द्वितीय व्यापार का सृष्टि के बीच एक गोचर प्रतिरूप दिखाना, जैसे—

"बुंद-अघात सहैं गिरि कैसे। खल के बचन संत सह जैसे।"

दूसरी अवस्था में प्रस्तुत दृश्य स्वयं सृष्टि या जीवन के किसी रहस्य का गोचर प्रतिबिंबवत् हो जाता है। अतः उस प्रतिबिंब का प्रतिबिंब ग्रहण करने में कल्पना उत्साह नहीं दिखाती। इसी से जहाँ दृश्य-चित्रण इष्ट होता है, वहाँ के लिए यह अवस्था अनुकूल नहीं होती।

वाल्मीकिजी भी बीच-बीच में उपमाएँ देते गए हैं; पर उससे उनके सूक्ष्म-निरीक्षण में कसर नहीं आने पाई है। वर्षा में पर्वत की गेरू से मिलकर नदियों की धारा का लाल होकर बहना, पर्वत के ऊपर से पानी की मोटी धारा का काली शिलाओं पर गिरकर छितराना, पेड़ों पर गिरे वर्षा के जल का पत्तियों की नोकों पर से बूँद-बूँद टपकना और पक्षियों का उसे पीना, हेमंत में कमलों के नाल-मात्र का खड़ा रहना और उसके छोर पर केसर का छितराना, ऐसे-ऐसे व्यापारों को वह सामने लाते चले गए हैं। सुंदर-कांड के पाँचवें सर्ग में जो छोटा-सा "चंद्र-नामा" है, वह इसके विरोध में नहीं उपस्थित किया जा सकता; क्योंकि वह एक प्रकार की स्तुति या वर्णन-मात्र है। वहाँ कोई दृश्य-चित्रण नहीं है।

विषयी या ज्ञाता अपने चारों ओर उपस्थित वस्तुओं को कभी-कभी किस

प्रकार अपने तत्कालीन भावों के रंग में देखता है, इसका जैसा सुंदर उदाहरण आदि-कवि ने दिया है, वह वैसा अन्यत्र कहीं कदाचित् ही मिले। पंचवटी में आश्रम बनाकर हेमंत में जब लक्ष्मण एक-एक वस्तु और प्राकृतिक व्यापार का निरीक्षण करने लगे, उस समय पाले से धुंधली पड़ी हुई चाँदनी उन्हें ऐसी दिखाई पड़ी, जैसी धूप से साँवली पड़ी हुई सीता —

ज्योत्स्ना तुषारमलिना पौर्णमास्यां न राजते।
सीतेव चातपश्यामा लक्ष्यते न तु शोभते॥

इसी प्रकार सुग्रीव को राज्य देकर माल्यवान् पर्वत पर निवास करते हुए, सीता के विरह में व्याकुल, भगवान् रामचंद्र को वर्षा आने पर ग्रीष्म की धूप से संतप्त पृथ्वी जल से पूर्ण होकर सीता के समान आँसू बहाती हुई दिखाई देती है, काले-काले बादलों के बीच में चमकती हुई बिजली रावण की गोद में छटपटाती हुई वैदेही के समान दिखाई पड़ती है, और फूले हुए अर्जुन के वृक्षों से युक्त तथा केतकी से सुगंधित शैल ऐसा लगता है, जैसे शत्रु से रहित होकर सुग्रीव अभिषेक की जलधारा से सींचा जाता हो। यथा—

एषा घर्मपरिक्लिष्टा नववारिपरिप्लुता।
सीतेव शोकसंतप्ता मही बाष्पं विमुंचति॥
नीलमेघाश्रिता विद्युत्स्फुरंती प्रतिभाति माम्।
स्फुरंती रावणस्यांके वैदेहीव तपस्विनी॥
एष फुल्लार्जुनः शैलः केतकीरधिवासितः।
सुग्रीव इव शांतारिर्धाराभिरभिषिच्यते॥

ऐसा अनुमान होता है कि कालिदास के समय से या उसके कुछ पहले ही से, दृश्य-वर्णन से संबंध में कवियों ने दो मार्ग निकाले। स्थल-वर्णन की सूक्ष्मता कुछ दिनों तक वैसी ही बनी रही, पर ऋतु-वर्णन में चित्रण उतना आवश्यक नहीं समझा गया, जितना कुछ इनी-गिनी वस्तुओं का कथन-मात्र करके भावों के उद्दीपन का वर्णन। जान पड़ता है, ऋतु-वर्णन वैसे ही फुटकल पद्यों के रूप में पढ़े जाने लगे, जैसे बारहमासा पढ़ा जाता है। अतः उनमें अनुप्रास और शब्दों के माधुर्य आदि का ध्यान अधिक रहने लगा।

कालिदास के ऋतु-संहार और रघुवंश के नवें सर्ग में सन्निविष्ट वसंत-वर्णन से इसका कुछ आभास मिलता है। उक्त वर्णन के श्लोक इस ढंग के हैं —

कुसुमजन्म ततो नवपल्लवा-
स्तदनु षट्पदकोकिलकूजितम् ।
इति यथाक्रममाविरभून्मधु-
द्रुमवतीमवतीर्य वनस्थलीम् ॥

रीति-ग्रंथों के अधिक बनने और प्रचार पाने से क्रमशः यह ढंग ज़ोर पकड़ता गया। प्राकृतिक वस्तु व्यापार का सूक्ष्म-निरीक्षण धीरे-धीरे कम होता गया। किस ऋतु में क्या-क्या वर्णन करना चाहिए, इसका आधार 'प्रत्यक्ष' अनुभव नहीं रह गया, 'आप्त-शब्द' हुआ। वर्षा के वर्णन में जो कदंब, कुटज, इंद्रवधू, मेघ-गर्जन, विद्युत इत्यादि का नाम लिया जाता रहा, वह इसलिए कि भगवान् भरत मुनि की आज्ञा थी—

कदंबनिंबकुटजैः शाद्वलैः सेंद्रगोपकैः ।
मेघैर्वातैः सुखस्पर्शैः प्रावृट्कालं प्रदर्शयेत् ॥

कहना नहीं होगा कि हिन्दी के कवियों के हिस्से में यही आया। गिनी गिनाई वस्तुओं के नाम लेकर अर्थ-ग्रहण-मात्र कराना अधिकतर उनका काम हुआ, सूक्ष्मरूप-विवरण और आधार-आधेय की संश्लिष्ट योजना के साथ 'चित्र-ग्रहण' कराना नहीं।

ऋतु-वर्णन की यह प्रथा निकल ही रही थी कि कवियों को भी औरों की देखा-देखी दंगल का शौक पैदा हुआ। राज-सभाओं में ललकार-कर टेढ़ी-मेढ़ी विकट समस्याएँ दी जाने लगीं, और कवि लोग उपमा, उत्प्रेक्षा आदि की अद्भुत-अद्भुत उक्तियों द्वारा उनकी पूर्ति करने लगे। ये उक्तियाँ जितनी ही बे-सिर-पैर की होतीं, उतनी ही वाहवाही मिलती। काश्मीर के मंखक कवि जब अपना श्रीकण्ठचरित काव्य काश्मीर के राजा की सभा में ले गए, तब वहाँ कन्नौज के राजा गोविन्दचंद्र के दूत सुहल ने उन्हें यह समस्या दी—

एतद्बभ्रुकचानुकारि किरणं राजद्ग्रहोऽह्नःशिर-
श्छेदाभं वियतः प्रतीचि निपतत्यब्धौ रवेर्मण्डलम् ।

अर्थात्—नेवले के बालों के सदृश पिङ्गली किरणों को प्रकट करता हुआ सूर्य का यह बिंब, चंद्रमा का द्रोह करनेवाले दिन के कटे हुए सर के समान, आकाश से पश्चिम-समुद्र में गिरता है।

इसकी पूर्ति मंखक ने इस प्रकार की—

एषापि द्युरमा प्रियानुगमनं प्रोद्दामकाष्ठोत्थिते-
संध्याग्नौ विरचय्यतारक मिषज्जातास्थि शेषस्थितिः।

अर्थात्—दिशाओं में उत्पन्न संध्या-रूपी प्रचंड अग्नि में अपने प्रियतम का अनुगमन करके आकाश की श्री (शोभा) भी तारों के बहाने (रूप में) अस्थि-शेष हो गई। (काष्ठोत्थिते=काष्ठा+उत्थिते और काष्ठा+उत्थिते (काष्ठा=दिशा; काष्ठा=लकड़ी)। मतलब यह कि सती हो जानेवाली आकाश-श्री की जो हड्डियाँ रह गईं, वे ही ये तारे हैं।

जो कल्पना पहले भावों और रसों की सामग्री जुटाया करती थी, वह बाज़ीगर का तमाशा करने लगी। होते-होते यहाँ तक हुआ कि "पिपीलिका नृत्यति वह्निमध्ये" और "मोम के मंदिर माखन के मुनि बैठे हुतासन आसन मारे" की नौबत आ गई।

कहाँ ऋषि-कवि का पाले से धुँधले चंद्रमा का मुँह की भाप से अंधे दर्पण के साथ मिलान, और कहाँ तारे और हड्डियाँ! खैर, यहाँ दोनों का रङ्ग तो सफ़ेद है! आगे चलकर तो यह दशा हुई कि दो-दो वस्तुओं को लेकर सांग रूपक बाँधते चले जाते हैं, वे किसी बात में परस्पर मिलती-जुलती भी हैं या नहीं, इससे कोई मतलब नहीं, सांग रूपक की रस्म तो अदा हो रही है। दूसरी बात विचारने की यह है कि संध्या समय अस्त होते हुए सूर्य को देख मंखक कवि के हृदय में किसी भाव का उदय हुआ या नहीं, उनके कथन से किसी भाव की व्यंजना होती है या नहीं? यहाँ अस्त होता हुआ सूर्य 'आलंबन' और कवि ही आश्रय माना जा सकता है। पर मेरे देखने में तो यहाँ कवि का हृदय एकदम तटस्थ है। उससे सारे वर्णन से कोई मतलब ही नहीं। उसमें रति, शोक आदि किसी भाव का पता नहीं लगता। ऐसे पद्यों को काव्य में परिगणित देख यदि कोई "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" की व्याप्ति में संदेह कर बैठे, तो उसका क्या दोष? "ललाई के बीच सूर्य का बिंब

समुद्र के छोर पर डूबा, और तारे छिटक गए'', इतना ही कथन यदि प्रधान होता, तो वह दृश्य कवि और श्रोता दोनों के रति भाव का आलंबन होकर काव्य कहला भी सकता था; पर अलंकार से एकदम आक्रांत हो कर वह काव्य का स्वरूप ही खो बैठा। यदि कहिए कि यहाँ अलंकार द्वारा उक्त दृश्य-रूप वस्तु व्यंग्य है, तो भी ठीक नहीं; क्योंकि 'विभाव' व्यङ्ग नहीं हुआ करता। 'विभाव' में शब्द-चित्र द्वारा उन वस्तुओं के स्वरूप की प्रतिष्ठा करनी होती है, जो भावों का आश्रय, आलंबन और उद्दीपन होती हैं। जब यह वस्तु-प्रतिष्ठा हो लेती है, तब भावों के व्यापार का आरम्भ होता है। मुक्तक में जहाँ नायकनायिका का चित्रण नहीं होता, वहाँ उनका ग्रहण 'आक्षेप' द्वारा होता है, व्यंजना द्वारा नहीं।

दृश्य-वर्णन में उपमा उत्प्रेक्षा आदि का स्थान कितना गौण है, इसकी मनोविज्ञान की रीति से भी परीक्षा हो सकती है। एक पर्वत-स्थली का दृश्य वर्णन करके किसी को सुनाइए। फिर महीने-दो-महीने पीछे उससे उसी दृश्य का कुछ वर्णन करने के लिए कहिए। आप देखेंगे कि उस संपूर्ण दृश्य की सुसंगत योजना करनेवाली वस्तुओं और व्यापारों में से वह बहुतों को कह जायगा, पर आपकी दी हुई उपमाओं में से शायद ही किसी का उसे स्मरण हो। इसका मतलब यही है कि उस वर्णन के जितने अंश पर हृदय की तल्लीनता के कारण पूरा ध्यान रहा, उसका संस्कार बना रहा; और इसलिये संकेत पाकर उसकी तो पुनरुद्भावना हुई, शेष अंश छूट गया।

उपन्यास

लेखक—श्रीयुत प्रेमचन्द जी

उपन्यास की परिभाषा विद्वानों ने कई प्रकार से की है, लेकिन यह क़ायदा है कि जो चीज़ जितनी ही सरल होती है उसकी परिभाषा उतनी ही मुश्किल होती है। कविता की परिभाषा आज तक नहीं हो सकी। जितने विद्वान् हैं उतनी ही परिभाषाएँ हैं। किन्हीं दो विद्वानों की रायें नहीं मिलतीं।

उपन्यास के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। इसकी कोई ऐसी परिभाषा नहीं है जिसपर सभी लोग सहमत हों। मैं उपन्यास को मानव चरित्र का चित्र मात्र समझता हूँ। मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है। किन्हीं भी दो आदमियों की सूरतें नहीं मिलतीं, उसी भाँति आदमियों के चरित्र भी नहीं मिलते। जैसे सब आदमियों के हाथ, पाँव, आँखें, कान नाक, मुँह होते हैं, पर इतनी समानता पर भी उनमें विभिन्नता मौजूद रहती है उसी भाँति सब आदमियों के चरित्रों में भी बहुत कुछ समानता होते हुए कुछ विभिन्नतायें होती हैं। यही चरित्र-सम्बन्धी समानता और विभिन्नता—अभिन्नत्व में भिन्नत्व और विभिन्नत्व में अभिन्नत्व—दिखाना उपन्यास का मुख्य कर्त्तव्य है। संतान-प्रेम मानव चरित्र का एक व्यापक गुण है। ऐसा कौन प्राणी होगा जिसे अपनी संतान प्यारी न हो। लेकिन इस संतान-प्रेम की मात्रायें हैं, उसके भेद हैं। कोई तो संतान के लिए मर मिटता है, उसके लिए कुछ छोड़ जाने के लिए आप नाना प्रकार के कष्ट झेलता है, लेकिन धर्मभीरुता के कारण अनुचित रीति से धन-संचय नहीं करता। उसे शंका होती है कि कहीं इसका परिणाम हमारी संतान के लिए बुरा न हो। कोई औचित्य का लेश मात्र भी विचार नहीं करता, जिस तरह भी हो कुछ धन-संचय करना अपना ध्येय समझता है। चाहे इसके लिए उसे दूसरों का गला ही क्यों न काटना पड़े। वह संतान-प्रेम पर अपनी आत्मा को भी बलिदान कर देता है। एक तीसरा संतान-प्रेम वह है जहाँ संतान की सच्चरित्रता प्रधान कारण होती है, जब कि पिता संतान का कुचरित्र देखकर उससे उदासीन हो जाता है, उसके लिए कुछ छोड़ जाना या कर जाना व्यर्थ समझता है। अगर आप विचार करेंगे तो इसी संतान-प्रेम के अगणित भेद आपको मिलेंगे। इसी भाँति अन्य मानवी गुणों की भी मात्राएँ और भेद हैं। हमारा चरित्राध्ययन जितना ही सूक्ष्म, जितना ही विस्तृत होगा, उतनी ही सफलता से हम चरित्रों का चित्रण कर सकेंगे। संतान-प्रेम की एक दशा यह भी है जब पुत्र को कुमार्ग पर चलते देखकर पिता उसका घातक शत्रु हो जाता है। वह भी संतान-प्रेम ही है जब पिता के लिए पुत्र घी का लड्डू होता है, जिसका टेढ़ापन उसके

स्वाद में बाधक नहीं होता। वह संतान-प्रेम भी देखने में आता है जहाँ शराबी, जुआरी पिता पुत्र-प्रेम के वशीभूत होकर यह सारी बुरी आदतें छोड़ देता है।

अब यहाँ प्रश्न होता है कि उपन्यासकार को इन चरित्रों का अध्ययन करके उनको पाठक के सामने रख देना चाहिये, उसमें अपनी तरफ से काट-छाँट, कमोबेशी कुछ न करनी चाहिए, या किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए चरित्रों में कुछ परिवर्तन भी कर देना चाहिए।

यहीं से उपन्यासकारों के दो गरोह हो गए हैं। एक आदर्शवादी दूसरा यथार्थवादी। यथार्थवादी चरित्रों को पाठक के सामने उनके यथार्थ, नग्न रूप में रख देता है। उसे इससे कुछ मतलब नहीं कि सच्चरित्रता का परिणाम बुरा होता है, या कुचरित्रता का परिणाम अच्छा। उसके चरित्र अपनी कमजोरियाँ या खूबियाँ दिखाते हुए अपनी जीवन-लीला समाप्त करते हैं, और चूँकि संसार में सदैव नेकी का फल नेक और बदी का फल बद नहीं होता, बल्कि इसके विपरीत हुआ करता है, नेक आदमी धक्के खाते हैं, यातनायें सहते हैं, मुसीबतें झेलते हैं, अपमानित होते हैं। उनकी नेकी का फल उलटा मिलता है। बुरे आदमी चैन करते हैं, नामवर होते हैं, यशस्वी बनते हैं, उनकी बदी का फल उलटा मिलता है। प्रकृति का नियम विचित्र है। यथार्थवादी अनुभव की बेड़ियों में जकड़ा होता है। और चूँकि संसार में बुरे चरित्रों की ही प्रधानता है, यहाँ तक कि उज्ज्वल से उज्ज्वल चरित्र में भी कुछ न कुछ दाग धब्बा रहते हैं, इसलिए यथार्थवाद हमारी दुर्बलताओं, हमारी विषमताओं और हमारी क्रूरताओं का नग्न चित्र होता है। वास्तव में यथार्थवाद हमको निराशावादी बना देता है, मानव-चरित्र पर से हमारा विश्वास उठ जाता है, हमको अपने चारों तरफ़ बुराई ही बुराई नज़र आने लगती है। इसमें संदेह नहीं कि समाज की कुप्रथा की ओर उसका ध्यान दिलाने के लिए यथार्थवाद अत्यन्त उपयुक्त है, क्योंकि इसके बिना बहुत संभव है कि हम उस बुराई को दिखाने में अत्युक्ति से काम लें और चित्र को उससे कहीं काला दिखायें जितना वह वास्तव में है। लेकिन जब वह दुर्बलताओं का चित्रण करने में शिष्टता की सीमाओं से आगे बढ़ जाता है, तो वह आपत्तिजनक हो जाता है। फिर मानव स्वभाव की एक विशेषता यह भी है कि वह जिस छल

और क्षुद्रता और कपट से घिरा हुआ है, उसी की पुनरावृत्ति उसके चित्त को प्रसन्न नहीं कर सकती। वह थोड़ी देर के लिए ऐसे संसार में उड़कर पहुँच जाना चाहता है जहाँ उसके चित्त को ऐसे कुत्सित भावों से नजात मिले, वह भूल जाय कि मैं चिन्ताओं के बंधन में पड़ा हुआ हूँ; जहाँ उसे सज्जन, सहृदय, उदार प्राणियों के दर्शन हों, जहाँ छल और कपट, विरोध और वैमनस्य का ऐसा प्राधान्य न हो। उसके दिल में ख़याल होता है कि जब हमें क़िस्से-कहानियों में भी उन्हीं लोगों से साबक़ा है जिनके साथ आठों पहर व्यवहार करना पड़ता है तो फिर ऐसी पुस्तक पढ़ें ही क्यों? अँधेरी कोठरी में काम करते-करते जब हम थक जाते हैं तो इच्छा होती है कि किसी बाग़ में निकलकर निर्मल स्वच्छ वायु का आनन्द उठाएँ। इस कमी को आदर्शवाद पूरा करता है। वह हमें ऐसे चरित्रों से परिचित कराता है जिनके हृदय पवित्र होते हैं, जो स्वार्थ और वासना से रहित होते हैं, जो साधु प्रकृति के होते हैं। यद्यपि ऐसे चरित्र व्यव-हार-कुशल नहीं होते, उनकी सरलता उन्हें सांसारिक विषयों में धोखा देती है, लेकिन काइयाँपन से ऊबे हुए प्राणियों को ऐसे सरल, ऐसे व्यावहारिक ज्ञान-विहीन चरित्रों के दर्शन से एक विशेष आनन्द होता है। यथार्थवाद यदि हमारी आँखें खोल देता है तो आदर्शवाद हमें उठाकर किसी मनोरम स्थान में पहुँचा देता है। लेकिन जहाँ आदर्शवाद में यह गुण है, वहाँ इस बात की भी शङ्का है कि हम ऐसे चरित्रों को न चित्रित कर बैठें जो सिद्धांतों की मूर्ति मात्र हों। किसी देवता की कामना करना मुश्किल नहीं है, लेकिन उस देवता में प्राण-प्रतिष्ठा करनी मुश्किल है।

इसलिए वही उपन्यास उच्चकोटि के समझे जाते हैं जहाँ यथार्थ और आदर्श का समावेश हो गया हो। उसे आप आदर्शोन्मुख यथार्थवाद कह सकते हैं। आदर्श को सजीव बनाने ही के लिए यथार्थ का उपयोग होना चाहिये और अच्छे उपन्यास की यही विशेषता है। उपन्यासकार की सबसे बड़ी विभूति ऐसे चरित्रों की सृष्टि करनी है जो अपने सद् व्यवहार और सद् विचार से पाठक को मोहित कर ले। जिस उपन्यास के चरित्रों में यह गुण नहीं है वह दो कौड़ी का है। चरित्र को उत्कृष्ट और आदर्श बनाने के लिए यह जरूरी नहीं कि वह निर्दोष हो। महान् से महान् पुरुषों में भी कुछ न कुछ कमजोरियाँ

होती हैं। चरित्र को सजीव बनाने के लिए उसकी कमजोरियों का दिग्दर्शन कराने से कोई हानि नहीं होती। यही कमजोरियाँ उस चरित्र को मनुष्य बना देती हैं। निर्दोष चरित्र तो देवता हो जायगा और हम उसे समझ ही न सकेंगे। ऐसे चरित्र का हमारे ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। हमारे प्राचीन साहित्य पर आदर्शों की छाप लगी हुई है। हमारा प्राचीन साहित्य केवल मनोरंजन के लिए न था। उसका मुख्य उद्देश्य मनोरंजन के साथ आत्मपरिष्कार भी था। साहित्यकार का काम केवल पाठकों का मन बहलाना नहीं है। यह तो भाटों और मदारियों, विदूषकों और मसखरों का काम है। साहित्यकार का पद इससे कहीं ऊँचा है। वह हमारा पथ-प्रदर्शक होता है, वह हमारे मनुष्यत्व को जगाता है, हममें सद्भावों का संचार करता है, हमारी दृष्टि को फैलाता है। कम से कम उसका यही उद्देश्य होना चाहिये। इस मनोरथ को सिद्ध करने के लिये जरूरत है कि उसके चरित्र Positive हों, जो प्रलोभनों के आगे सिर न झुकाएँ; बल्कि उनको परास्त करें, जो वासनाओं के पंजे में न फँसे; बल्कि उनका दमन करें, जो किसी विजयी सेनापति की भाँति शत्रुओं का संहार करके विजय-नाद करते हुए निकलें। ऐसे ही चरित्रों का हमारे ऊपर सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है।

साहित्य का सबसे ऊंचा आदर्श यह है कि उसकी रचना केवल कला की पूर्त्ति के लिये की जाय। कला के लिए कला के सिद्धान्त पर किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। वह साहित्य चिरायु हो सकता है जो मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियों पर अवलंबित हो। ईर्षा और प्रेम, क्रोध और लोभ, भक्ति और विराग, दुख और लज्जा ये सभी हमारी मौलिक प्रवृत्तियाँ हैं। इन्हीं की छटा दिखाना साहित्य का परम उद्देश्य है। बिना उद्देश्य के तो कोई रचना हो ही नहीं सकती। जब साहित्य की रचना किसी सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक मत के प्रचार के लिये की जाती है, तो वह अपने ऊँचे पद से गिर जाती है। इसमें कोई संदेह नहीं। लेकिन आज-कल परिस्थितियाँ इतनी तीव्र गति से बदल रही हैं, इतने नए-नए विचार पैदा हो रहे हैं कि कदाचित् अब कोई लेखक साहित्य के आदर्शों को ध्यान में रख ही नहीं सकता। यह बहुत मुश्किल है कि लेखक पर इन

परिस्थितियों का असर न पड़े, वह उनसे आंदोलित न हो। यही कारण है कि आजकल भारतवर्ष में ही नहीं, यूरप के बड़े-बड़े विद्वान् भी अपनी रचना द्वारा किसी न किसी वाद का प्रचार कर रहे हैं। वे इसकी परवा नहीं करते कि इससे हमारी रचना जीवित रहेगी या नहीं। अपने मत की पुष्टि करना ही उनका ध्येय है। इसके सिवाय उन्हें कोई इच्छा नहीं।' मगर यह क्योंकर मान लिया जाय कि जो उपन्यास किसी विचार के प्रचार के लिये लिखा जाता है उसका महत्व क्षणिक होता है। ह्यूगो का 'ला मिज़रेबुल' टालस्टाय के अनेक ग्रंथ, डिकेन्स की कितनी ही रचनाएँ विचार-प्रधान होते हुए साहित्य की उच्च कोटि की हैं और अब तक उनका आकर्षण कम नहीं हुआ। आज भी शा, वेल्स आदि बड़े-बड़े लेखकों के ग्रंथ प्रचार ही के उद्देश्य से लिखे जा रहे हैं। हमारा ख़याल है कि कुशल साहित्यकार कोई विचार-प्रधान रचना भी इतनी सुन्दरता से करता है कि उसमें मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियों का संघर्ष निभता रहे। कला के लिए कला का समय वह होता है जब देश सम्पन्न और सुखी हो। जब हम देखते हैं कि हम भाँति-भाँति के राजनैतिक और सामाजिक बंधनों में जकड़े हुए हैं, जिधर निगाह उठती है, दुख और दरिद्रता के भीषण दृश्य दिखाई देते हैं, विपत्ति का करुण-क्रन्दन सुनाई देता है, तो कैसे संभव है कि किसी विचारशील प्राणी का हृदय न दहल उठे। हाँ, उपन्यासकार को इसका प्रयत्न अवश्य करना चाहिये कि उसके विचार परोक्ष रूप से व्यक्त हों, उपन्यास की स्वाभाविकता में उस विचार के समावेश से कोई विघ्न न पड़ने पाए, वरना उपन्यास नीरस हो जायगा।

डिकेंस इंगलैंड का बहुत प्रसिद्ध उपन्यासकार हो गुज़रा है। 'पिकविक पेपर्स' उसकी एक अमर, हास्य-रस-प्रधान रचना है। "पिकविक" का नाम एक शिकरम गाड़ी के मुसाफिरों की ज़बान से डिकेंस के कान में आया। बस, नाम के अनुरूप ही चरित्र, आकार, वेष सब की रचना हो गई। "साइलस मारिनर" भी अंग्रेजी का एक प्रसिद्ध उपन्यास है। जार्ज इलियट ने, जो इसकी लेखिका हैं, लिखा है कि अपने बचपन में उन्होंने एक फेरी लगाने वाले जुलाहे को पीठ पर कपड़े के थान लादे हुए कई बार देखा था। वह तस्वीर उनके हृदय-पट पर अंकित हो गई थी और समय पर इस उपन्यास के रूप में प्रकट हुई।

"स्कारलेट लेटर" भी हथर्न की बहुत ही सुंदर, मर्मस्पर्शिनी रचना है। इस पुस्तक का बीजाङ्कुर उन्हें एक पुराने मुकदमे की मिसिल से मिला। भारतवर्ष में अभी उपन्यासकारों के जीवन-चरित्र लिखे नहीं गए, इसलिए भारतीय उपन्यास-साहित्य से कोई उदाहरण देना कठिन है। 'रङ्गभूमि' का बीजांकुर हमें एक अंधे भिखारी से मिला, जो हमारे गांव में रहता था। एक ज़रा-सा इशारा, ज़रा-सा बीज, लेखक के मस्तिष्क में पहुँचकर इतना विशाल वृक्ष बन जाता है कि लोग उस पर आश्चर्य करने लगते हैं। "एम० ऐंड्रूज़हिम" रुडयार्ड किपलिङ्ग की एक उत्कृष्ट काव्य-रचना है। किपलिंग साहब ने अपने एक नोट में लिखा है कि एक दिन एक इंजीनियर साहब ने रात को अपनी जीवन-कथा सुनाई थी। वही उस काव्य का आधार थी। एक और प्रसिद्ध उपन्यासकार का कथन है कि उसे अपने उपन्यासों के चरित्र अपने पड़ोसियों में मिले। वह घंटों अपनी खिड़की के सामने बैठे लोगों को आते-जाते सूक्ष्म दृष्टि से देखा करते और उनकी बातों को ध्यान से सुना करते थे। "जेन आयर" भी अंग्रेज़ी उपन्यास के प्रेमियों ने अवश्य पढ़ी होगी। दो लेखिकाओं में इस विषय पर बहस हो रही थी कि उपन्यास की नायिका रूपवती होनी चाहिए या नहीं। 'जेन आयर' की लेखिका ने कहा, मैं ऐसा उपन्यास लिखूंगी जिसकी नायिका रूपवती न होते हुए भी आकर्षक होगी। इसका फल था 'जेन आयर'।

बहुधा लेखकों को पुस्तकों से अपनी रचनाओं के लिए अंकुर मिल जाते हैं। हालकेन का नाम पाठकों ने सुना है। आप की एक उत्तम रचना का अनुवाद हाल ही में "अमरपुरी" के नाम से हुआ है। आप लिखते हैं कि मुझे बाइबिल से प्लाट मिलते हैं। "मेटरलिंक" बेलजियम के जगत्-विख्यात नाटककार हैं। उन्हें बेलजियम का शेक्सपियर कहते हैं। उनका "मोनावोन" नामक ड्रामा ब्राउनिंग की एक कविता से प्रेरित हुआ था और "मेरी मैगडालेन" एक जर्मन ड्रामा से शेक्सपियर के नाटकों का मूल स्थान खोज-खोज कर कितने ही विद्वानों ने "डाक्टर" की उपाधि प्राप्त कर ली है। कितने वर्तमान औपन्यासिकों और नाटककारों ने शेक्सपियर से सहायता ली है, इसकी खोज करके भी कितने ही लोग "डाक्टर" बन सकते हैं। "तिलस्म

"होशरुबा" फारसी का एक बृहत् पोथा है, जिसके रचयिता अकबर के दरबार वाले फैजी कहे जाते हैं, हालाँकि हमें यह मानने में संदेह है। इस पोथे का उर्दू में भी अनुवाद हो गया है। कम से कम २०००० पृष्ठों की पुस्तक होगी। स्व० बाबू देवीकीनंदन खत्री ने चंद्रकान्ता और चन्द्रकान्ता-संतति का बीजांकुर "तिलस्म होशरुबा" से ही लिया होगा, ऐसा अनुमान होता है।

संसार-साहित्य में कुछ ऐसी कथाएँ हैं जिन पर हजारों बरसों से लेखक-गण आख्यायिकाएँ लिखते आए हैं और शायद हजारों वर्षों तक लिखते जायँगे। हमारी पौराणिक कथाओं पर कितने नाटक और कितनी कथाएँ रची गई हैं, कौन नहीं जानता। यूरोप में भी यूनान की पौराणिक गाथा कवि-कल्पना के लिए एक अशेष आधार है। 'दो भाइयों की कथा,' जिसका पता पहले मिश्र देश के तीन हजार वर्ष पुराने लेखों से मिला था, फ्रांस से भारत-वर्ष तक एक दर्जन से अधिक प्रसिद्ध भाषाओं के साहित्य में समाविष्ट हो गई है। यहां तक कि बाइबिल में उस कथा की एक घटना ज्यों की त्यों मिलती है। किन्तु यह समझना भूल होगी कि लेखकगण आलस्य या कल्पनाशक्ति के अभाव के कारण प्राचीन कथाओं का उपयोग करते हैं। बात यह है कि नए कथानक में वह रस, वह आकर्षण नहीं होता जो पुराने कथानकों में पाया जाता है। हाँ, उनका कलेवर नवीन होना चाहिए। 'शकुंतला' पर यदि कोई उपन्यास लिखा जाय, तो वह कितना मर्मस्पर्शी होगा, यह बताने की जरूरत नहीं। रचनाशक्ति थोड़ी बहुत सभी प्राणियों में रहती है। जो उसमें अभ्यस्त हो चुके हैं, उन्हें तो फिर झिझक नहीं रहती, कलम उठाया और लिखने लगे, लेकिन नए लेखकों को पहले कुछ लिखते समय ऐसी झिझक होती है मानो वे दरिया में कूदने जा रहे हों। बहुधा एक तुच्छ-सी घटना उनके मस्तिष्क पर प्रेरक का काम कर जाती है। किसी का नाम सुनकर, कोई स्वप्न देखकर, कोई चित्र देखकर उनकी कल्पना जाग उठती है। किसी व्यक्ति पर किस प्रेरणा का सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है, यह उस व्यक्ति पर निर्भर है। किसी की कल्पना दृश्य विषयों से उभरती है, किसी की गंध से, किसी की श्रवण से, किसी को नए, सुरम्य स्थान की सैर से इस विषय में यथेष्ट सहायता मिलती है। नदी के तट पर अकेले भ्रमण करने से बहुधा नई-नई कल्पनाएँ जाग्रत होती हैं। ईश्वरदत्त

शक्ति मुख्य वस्तु है। जब तक यह शक्ति न होगी उपदेश, शिक्षा, अभ्यास सभी निष्फल जायगा। मगर यह प्रकट कैसे हो कि किसमें यह शक्ति है, किसमें नहीं। कभी इसका सबूत मिलने में बरसों गुजर जाते हैं और बहुत परिश्रम नष्ट हो जाता है। अमेरिका के एक पत्र-संपादक ने इसकी परीक्षा करने का एक नया ढंग निकाला है। दल के दल युवकों में से कौन रत्न है और कौन पाषाण? वह एक कागज के टुकड़े पर कोई नाम लिख देता है और उम्मेदवार को वह टुकड़ा देकर उस नाम के संबन्ध में तानड़तोड़ प्रश्न करना शुरू करता है—उसके बालों का रंग क्या है? उसके कपड़े कैसे हैं? कहां रहती है? उसका बाप क्या काम करता है? जीवन में उसकी मुख्य अभिलाषा क्या है? यदि युवक महोदय ने इन प्रश्नों के संतोष-जनक उत्तर न दिए, तो वह उन्हें अयोग्य समझ कर बिदा कर देता है। जिसकी कल्पना इतनी शिथिल हो, वह उसके विचार में उपन्यास-लेखक नहीं बन सकता। इस परीक्षा-विभाग में नवीनता तो अवश्य है, पर भ्रामकता की मात्रा अधिक है।

लेखकों के लिए एक नोटबुक का रहना बहुत आवश्यक है। यद्यपि इन पंक्तियों के लेखक ने कभी नोटबुक नहीं रक्खी, पर इसकी जरूरत को वह स्वीकार करता है। कोई नई चीज, कोई अनोखी सूरत, कोई सुरम्य दृश्य देखकर नोटबुक में दर्ज कर लेने से बड़ा काम निकलता है। यूरोप में लेखकों के पास उस वक्त तक नोटबुक अवश्य रहती है जब तक उनका मस्तिष्क इस योग्य नहीं बनता कि हर एक प्रकार की चीज़ों को अलग-अलग खानों में संग्रहीत कर लें। बरसों के अभ्यास के बाद यह योग्यता प्राप्त हो जाती है; इसमें संदेह नहीं, लेकिन आरंभ-काल में तो नोटबुक का रखना परमावश्यक है। यदि लेखक चाहता है कि उसके दृश्य सजीव हों, उसके वर्णन स्वाभाविक हों, तो उसे अनिवार्यतः इससे काम लेना पड़ेगा। देखिए, एक उपन्यासकार के नोटबुक का नमूना—

अगस्त २१, १२ बजे दिन, एक नौका पर एक आदमी श्याम वर्ण 'सुफ़ेद बाल' आँखें तिरछी, पलकें भारी, ओठ ऊपर को उठे हुए और मोटे, मूँछें ऐंठी हुईं। सितम्बर १, समुद्र का दृश्य, बादल श्याम और श्वेत पानी में

सूर्य का प्रतिबिम्ब काला, हरा चमकीला, लहरें फेनदार, उनका ऊपरी भाग उजला। लहरों का शोर, लहरों के छींटे से झाग उड़ती हुई।

उन्हीं महाशय से जब पूछा गया कि आप को कहानियों के प्लाट कहाँ मिलते हैं? तो आपने कहा—चारों तरफ़। अगर लेखक अपनी आँखें खुली रक्खे, तो उसे हवा में से भी कहानियाँ मिल सकती हैं। रेलगाड़ी में, नौकाओं पर, समाचार-पत्रों में, मनुष्यों के वार्तालाप में, और हजारों जगहों से सुंदर कहानियाँ बनाई जा सकती हैं। कई सालों के अभ्यास के बाद देखभाल स्वाभाविक हो जाती है, निगाह आप ही आप अपने मतलब की बात छाँट लेती है। दो साल हुआ, मैं एक मित्र के साथ सैर करने गया। बातों ही बात में यह चरचा छिड़ गई कि यदि दो के सिवा संसार के और सब मनुष्य मार डाले जायँ तो क्या हो? उस अंकुर से मैंने कई सुन्दर कहानियाँ सोच निकालीं।

इस विषय में तो उपन्यास-कला के सभी विशारद सहमत हैं कि उपन्यासों के लिए पुस्तकों से मसाला न लेकर जीवन ही से लेना चाहिए। वालटर बेसेंट अपनी "उपन्यास-कला" नामक पुस्तक में लिखते हैं:—

"उपन्यासकार को अपनी सामग्री आले पर रक्खी हुई पुस्तकों से नहीं, उन मनुष्यों के जीवन से लेनी चाहिए जो उसे नित्य ही चारों तरफ़ मिलते रहते हैं। मुझे पूरा विश्वास है कि अधिकांश लोग अपनी आँखों से काम नहीं लेते। कुछ लोगों को यह शंका भी होती है कि मनुष्यों में जितने अच्छे नमूने थे वे तो पूर्वकालीन लेखकों ने लिख डाले, अब हमारे लिए क्या बाकी रहा। यह सत्य है, लेकिन अगर पहले किसी ने बूढ़े कंजूस, उड़ाऊ युवक, जुआरी, शराबी, रंगीन युवती आदि का चित्रण किया है, तो क्या अब उसी वर्ग के दूसरे चरित्र नहीं मिल सकते? पुस्तकों में नए चरित्र न मिलें, पर जीवन में नवीनता का अभाव कभी नहीं रहा।"

हेनरी जेम्स ने इस विषय में जो विचार प्रकट किए हैं, वह भी देखिए—

अगर किसी लेखक की बुद्धि कल्पना-कुशल है तो वह सूक्ष्मतम भावों से जीवन को व्यक्त कर देती है, वह वायु के स्पंदन को भी जीवन प्रदान कर सकती है। लेकिन कल्पना के लिए कुछ आधार अवश्य चाहिए। जिस

तरुणी लेखिका ने कभी सैनिक छावनियाँ नहीं देखीं उससे यह कहने में कुछ भी अनौचित्य नहीं है कि आप सैनिक जीवन में हाथ न डालें। मैं एक अंग्रेज उपन्यासकार को जानता हूँ जिसने अपनी एक कहानी में फ्रांस के प्रोटेस्टेंट युवकों के जीवन का अच्छा चित्र खींचा था। उस पर साहित्यिक संसार में बड़ी चर्चा रही। उससे लोगों ने पूछा, आपको इस समाज के निरीक्षण करने का ऐसा अवसर कहाँ मिला (फ्रांस रोमन कैथोलिक देश है और प्रोटेस्टेंट वहाँ साधारणतः नहीं दिखाई पड़ते) मालूम हुआ कि उसने एक बार, केवल एक बार, कई प्रोटेस्टेंट युवकों को बैठे और बातें करते देखा था। बस, एक बार का देखना उसके लिए पारस हो गया। उसे वह आधार मिल गया जिस पर कल्पना अपना विशाल भवन निर्माण करती है। उसमें वह ईश्वरदत्त शक्ति मौजूद थी, जो एक इञ्च से एक योजन की खबर लाती है और जो शिल्पी के लिए बड़े महत्व की वस्तु है।

मि० जी० के० चेस्टरटन जासूसी कहानियाँ लिखने में बड़े प्रवीण हैं। आपने ऐसी कहानियाँ लिखने का जो नियम बताया है वह बहुत शिक्षाप्रद है। हम उसका आशय लिखते हैं।

कहानी में जो रहस्य हो उसे कई भागों में बाँटना चाहिए। पहिले छोटी सी बात खुले, फिर उससे कुछ बड़ी और अंत में मुख्य रहस्य खुल जाय। लेकिन हर एक भाग में कुछ न कुछ रहस्योद्घाटन अवश्य होना चाहिए, जिसमें पाठक की इच्छा सब कुछ जानने के लिए बलवती होती चली जाय। इस प्रकार की कहानियों में इस बात का ध्यान रखना परमावश्यक है कि कहानी के अंत में रहस्य खोलने के लिए कोई नया चरित्र न लाया जाय। जासूसी कहानियों में यही सब से बड़ा दोष है। रहस्य के खुलने में जभी मज़ा है कि वही चरित्र अपराधी सिद्ध हो जिस पर कोई भूलकर भी न सन्देह कर सकता था।

उपन्यास-कला में यह बात भी बड़े महत्व की है कि लेखक क्या लिखे और क्या छोड़ दे। पाठक भी कल्पनाशील होता है। इसलिए वह ऐसी बातें पढ़ना पसंद नहीं करता जिनकी वह आसानी से कल्पना कर सकता है। इसलिए वह यह नहीं चाहता कि लेखक सब कुछ खुद कह डाले और पाठक

की कल्पना के लिए कुछ भी बाकी न छोड़े। वह कहानी का खाका मात्र चाहता है, रंग वह अपनी अभिरुचि के अनुसार भर लेता है। कुशल लेखक वही है जो यह अनुमान कर ले कि कौन सी बात पाठक स्वयं सोच लेगा और कौन सी बात उसे लिखकर स्पष्ट कर देनी चाहिए। कहानी या उपन्यास में पाठक की कल्पना के लिए जितनी ही अधिक सामग्री हो उतनी ही वह कहानी रोचक होगी। यदि लेखक आवश्यकता से कम बतलाता है तो कहानी आशयहीन हो जाती है, ज्यादा बतलाता है तो कहानी में मज़ा नहीं आता। किसी चरित्र की रूप-रेखा या किसी दृश्य को चित्रित करते समय हुलिया-नवीसी करने की ज़रूरत नहीं। दो-चार वाक्यों में मुख्य-मुख्य बातें कह देनी चाहिएँ। किसी दृश्य को तुरत देखकर उसका वर्णन करने से बहुत सी अनावश्यक बातों के आजाने की सम्भावना रहती है। कुछ दिनों के बाद अनावश्यक बातें आप ही आप मस्तिष्क से निकल जाती हैं, केवल मुख्य बातें स्मृति पर अंकित रह जाती हैं। तब उस दृश्य के वर्णन करने में अनावश्यक बातें न रहेंगी। आवश्यक और अनावश्यक कथन का एक उदाहरण देकर हम अपना आशय और स्पष्ट करना चाहते हैं।

दो मित्र संध्या समय मिलते हैं। सुविधा के लिए हम उन्हें राम और श्याम कहेंगे।

राम—गुडईवनिंग श्याम, कहो आनन्द तो है ?

श्याम—हलो राम ! तुम आज किधर भूल पड़े ?

राम—कहो क्या रङ्ग-ढङ्ग है ? तुम तो भले ईद के चाँद हो गए।

श्याम—मैं तो ईद का चाँद न था; हाँ, आप गूलर के फूल भले ही हो गए।

राम—चलते हो संगीतालय की तरफ़ ?

श्याम—हाँ चलो।

लेखक यदि ऐसे बच्चों के लिए कहानी नहीं लिख रहा है जिन्हें अभिवादन की मोटी-मोटी बातें बताना ही उसका ध्येय है तो वह केवल इतना ही लिख देगा—

"अभिवादन के पश्चात् दोनों मित्रों ने संगीतालय की राह ली।"

(१०)

रंगमंच

लेखक—डा० रामकुमार वर्मा, एम० ए०, पी० एच-डी०
प्रयाग-विश्वविद्यालय

जिस प्रकार शिशु अपने दोनों हाथ फैलाकर चन्द्र-खिलौना माँगता है, असम्भव घटनाओं के अस्तित्व के लिये हठ करता है, उसी प्रकार नाट्यशाला में बैठी हुई जनता मञ्च से एक असम्भव सुख लूटना चाहती है, पात्रों से अनुचित और कठिन अभिनय माँगती है। इसमें संदेह नहीं कि पात्रों का अभिनय जनता की रुचि के अनुसार होना चाहिये; किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जनता की गिरी हुई आकांक्षाओं और साधारण रुचि के अनुसार ही पात्रों का अभिनय हो। पात्रों में कला की उत्कृष्टता हो सकती है, पर यह नहीं कहा जा सकता कि जनता उस उत्कृष्ट कला के रूप की उत्कृष्ट रूप से प्रशंसा अथवा सराहना कर सकेगी अथवा नहीं। जिस समय विविध विचारों में डूबी हुई; कला के रूप की विभिन्न कल्पनाएँ करती हुई, जनता नाट्यशाला में प्रवेश करती है, उस समय सञ्चालकों को इस बात का डर सदैव ही बना रहता है कि उनका नाटक दर्शकों द्वारा प्रशंसित होगा अथवा नहीं। उस समय वे जनता की रुचि को पहचानना चाहते हैं। यदि उनकी कला दर्शकों को पसंद आ गई तब तो उनकी सोने की थैली का वज़न बढ़ जाता है, अन्यथा धन-व्यय करने पर भी उनके सिर गालियों का बोझ पड़ता है। ऐसी स्थिति में नाटककार और सञ्चालक दर्शकों की रुचि के पीछे ऐसे दौड़ते हैं जैसे एक रङ्गीन तितली के पीछे उत्सुक और भोले बालक। यदि उन्हें यह ज्ञात हो जाय कि जनता के हृदय की माँग क्या है तो नाट्यशालाओं की संख्या अमावस की रात में तारों की भाँति बढ़ जाय। लोग चाहते क्या हैं, यही समझना तो कठिन प्रश्न है। रस्किन ने एक स्थान पर लिखा है कि जनता एक बच्चे के समान है। जिस प्रकार एक शिशु अपने विचारों के इन्द्रधनुष में विविध भावनाओं का रङ्ग भरा करता है और कुछ क्षणों के बाद उसे मिटा देता है, उसी प्रकार जनता किसी

समय एक प्रकार के विचारों में पूर्णरूप से संलग्न होकर उन्हीं विचारों को इन्द्रधनुष के समान मिटा देती है। जो चीज़ एक समय उसे प्रिय थी वही दूसरे समय उसे अप्रिय हो जाती है। ऐसी स्थिति में नाटक के सञ्चालक बेचारे क्या करें। जो नाट्यसामग्री एक बार दर्शकों के हृदय में विप्लव मचा चुकी थी वही सामग्री कुछ दिनों के बाद धूल में फेंक दी जाती है। इसके मुख्यतः दो कारण हैं—प्रथम तो शिशु के समान जनता की अपरिमार्जित बुद्धि और द्वितीय जनता की धार्मिक प्रवृत्ति।

भारतीय नाटक का जन्म धर्म की गोद में हुआ था। उसी के सहारे नाटक में जीवन की शक्तियाँ आईं और उसी ने उसका अस्तित्व संसार में रहने दिया। ग्रीस के सुखान्त नाटक जिस प्रकार डायोनीसस की पूजा के रूप से प्रारम्भ हुए, उसी प्रकार भारतीय नाटक का भी धर्म से बड़ा गहरा सम्बन्ध है। भारतीय नाटक और मञ्च की उत्पत्ति के विषय में ई० पी० हारविज़ रचित "दी इण्डियन थियेटर" में लिखा है—"एक बार सभी देवता मिलकर ब्रह्मा के पास गये और उन्होंने उनसे अपने मनोरञ्जन की सामग्री माँगी। ब्रह्मा ने ऋक् से नृत्य, साम से गान, यजुर् से अभिनय और अथर्व से भाव लेकर एक नाट्यवेद की रचना की। पहला रङ्गमञ्च बनाने के लिये विश्वकर्मा बुलाया गया और उसने इन्द्रभवन में एक विशाल मञ्च का निर्माण किया। इस मञ्च के ऊपर प्रथम बार इन्द्रध्वज त्यौहार के अवसर पर समवकार के रूप में अमृत-मन्थन का अभिनय किया गया, उसके बाद डिम के रूप में त्रिपुर-दाह का। नाटक में अपने पुत्र शिष्यों के साथ भरतमुनि ने तथा गन्धर्व और अप्सराओं ने अभिनय किया था। राजा नहुष ने पहली बार पृथ्वी पर रङ्गमञ्च की स्थापना की और अभिनय कराने के लिये उन्होंने स्वर्गीय देवाङ्गनाओं, अप्सराओं और गन्धर्वों को पृथ्वी पर आने के लिये बाध्य किया था। यह बात कहाँ तक सत्य अथवा असत्य है, यह तो नहीं कहा जा सकता; किन्तु हमारे पूर्व-ग्रन्थों के इस वर्णन से यही तीन बातें निष्कर्ष के रूप में मिलती हैं :—

(१) नाटक के तत्व हमारे वेदों में वर्तमान हैं।

(२) धार्मिक अवसर पर ही हमारे यहाँ नाटकों के अभिनय हुआ करते थे।

(३) स्त्री-पुरुष समान रूप से भाग लिया करते थे; क्योंकि उस समय नाटक एक धार्मिक संस्था के रूप में माने जाते थे।

नाटक की इस परम्परागत कथा ने ही भारतीयों के हृदय में धर्म और नाटक का ऐसा एकीकरण कर दिया कि सारी जनता के हृदय में नाटकों में धर्मतत्व देखने की उत्कण्ठा-सी उत्पन्न हो गई। यही कारण है कि पुराने नाटकों में धर्म का तत्व व्यापक रूप से पाया जाता है। जब भारतीयों के हृदय एक बार धर्ममय नाटकों में मिल गये, तब उनसे यह कैसे आशा की जा सकती थी कि वे एक बार ही धर्म के वातावरण से निकलकर अन्य प्रकार के नाटकों की ओर अपनी आँख उठा सकेंगे। भारतीय जनता की यही रुचि जो इस समय धर्म और वर्तमान-कालीन सभ्यता की सर्वतोन्मुखी प्रवृत्ति के बीच में उलझी है—किसे ग्रहण करें और किसे त्यागें—वर्तमान मञ्च-सञ्चालकों की असुविधा का कारण बन रही है।

जनता की धार्मिक प्रवृत्ति पर प्रकाश डालने के पश्चात् उसकी अपरिमार्जित बुद्धि पर विचार कीजिये। हिन्दी में अच्छे नाटकों की संख्या प्रातः-कालीन तारों की भाँति बहुत ही कम है। ऐसी स्थिति में जब कि जनता को यह अवसर ही नहीं दिया जाता कि वह अच्छे-अच्छे नाटकों को देखकर अपनी प्रवृत्तियों और भावनाओं का मार्जन कर सके, तब उससे परिमार्जित रुचि की आशा करना वैसा ही है जैसा किसी भूखी भिखारिणी से विविध व्यञ्जनों की स्वादोत्कृष्टता का पता पूछना। जब दर्शक-मण्डली नाटक के वास्तविक तत्वों को जानती ही नहीं तब, ऐसी स्थिति में, वह किस प्रकार अपनी रुचि को सुधार सकती है?

अभी उस दिन प्रयाग के विश्वम्भर-पैलेस में न्यू अलफ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी आई थी। नाटक था 'गणेश-जन्म'। मैं भी एक आलोचक की हैसियत से वहाँ गया था। आदि से अन्त तक देख लेने पर मुझे ज्ञात हुआ कि सञ्चालक अथवा नाटककार ने नाटक के आदर्शों को पाने की चेष्टा तो नहीं की, वरन् जनता की अपरिमार्जित रुचि में गुदगुदी पैदा करने की कोशिश की है। दृश्यों की जगमगाहट और पर्दों की "फटफटाहट" ही नाट्यशास्त्र का अंग बन गई थी। जनता के हृदय में कौतूहल-वर्द्धक भावनाओं को जागरित करने

की विधियाँ जुटाई गई थीं। सती का सीता के रूप में अकस्मात् परिवर्तित हो जाना, शिव के काष्ठनिर्मित नन्दी का अपने पैरों पर खड़े हो जाना, मञ्च पर दक्ष प्रजापति का सिर काटा जाना, कामदेव का पुष्पबाण से उजड़ी हुई प्रकृति में पीले और गुलाबी फूलों का अकस्मात् प्रादुर्भाव कर देना, मञ्च पर गणेश का सिर काटकर उनके शरीर में हाथी का सिर जोड़ देना आदि कितनी ही घटनाएँ दर्शकों के हृदय में आश्चर्य और कौतूहल उत्पन्न करनेवाली थीं। कथानक का पता नहीं था कि मञ्च किसी जादूगर की दूकान है जहाँ क्षण-क्षण में आश्चर्यजनक परिवर्तन होता रहता है। कथावस्तु रास्ता भूलकर न जाने कहाँ पिछड़ गई थी, पर कौतूहलवर्द्धक घटनाएँ एक-एक कर मञ्च पर आती जाती थीं, मानों नाटक के सञ्चालक ने अपना 'कमाल' दिखलाने के लिये ही प्रयाग की सारी जनता को आमन्त्रित किया हो! बीच में सिनेमा का प्रयोग भी था और उसके अन्तिम दृश्य का जोड़ मञ्च के अभिनय से दिखलाया गया था। दर्शकों के हाथ रुक न सके। मुख के शब्दों के साथ-साथ हाथों ने भी तालियों के शब्द से सराहना की। सारा पैलेस करतल-ध्वनि से गूँज गया। "स्प्लेन्डिड", "सुपर्ब", "एक्सीलेन्ट" और "ख़ूब-ख़ूब" के शब्दों के शोर में तालियों का शोर मिल गया। नाटक के समाप्त होने पर मैंने दर्शकों से, जो पैलेस से हर्ष, प्रशंसा और उत्साह की मुद्रा से निकल रहे थे, पूछा—नाटक कैसा हुआ? सबों ने प्रशंसा से सिर हिलाकर कहा—"कमाल है!" यह थी जनता की रुचि!

डब्लू० ए० डारलिङ्गटन ने अङ्गरेज़ी में एक किताब लिखी है। उसका नाम है—"लिटरेचर इन दि थियेटर" उसमें उन्होंने लिखा है कि नाटक के तीन तत्व हैं—कथा-वस्तु, शैली और चरित्र। उन नाटकों में, जो जनता में आहृत हैं, कथा-वस्तु का तो अधिक विस्तार रहता है, पर दो पैसे के मूल्य का चरित्र, और शैली का प्रायः अभाव रहता है। जो नाटक साहित्यिक नाटकों की श्रेणी में आता है और जो अभिनेताओं द्वारा 'रद्दी' कहा जाता है, उसमें शैली की उत्कृष्ट मात्रा रहती है, कुछ चरित्र-चित्रण, और कथानक प्रायः शून्य-सा रहता है। आदर्श नाटकों में ये बातें विस्तार से पाई जाती हैं। नाट्यशास्त्र का जो विद्यार्थी है, यदि वह मन लगाकर नाटकों का रङ्गमञ्च पर अध्ययन करे

और यदि वह नाटकों के बाह्य और अन्तरतम रूप पर विचार करे तो कुछ ही दिनों में उसे कथावस्तु में आनन्द नहीं आवेगा। नाटकों को अधिक संख्या में देखकर उसे कथानक की ओर से वैसी ही अरुचि हो जायगी जैसी कि एक बहुत मिठाई खानेवाले को मिठाई खाने के पश्चात् मिठास से हो जाती है। इसका एक कारण है। अनेक नाटकों का कथानक आपस में मिलता जुलता सा है। कहते हैं, संसार में केवल सात कथानकों का ही अस्तित्व है। भिन्न-भिन्न नाटक, कविता, उपन्यास के कथानक उन्हीं सात कथानकों के रूप में यत्र-तत्र परिवर्तित कर बनाये जाते हैं। ऐसी स्थिति में बहुत सम्भव है—सम्भव क्या, सत्य ही है कि अनेक नाटकों का कथानक एक-दूसरे से बहुत मिलता जुलता हो। इसी सादृश्य के कारण नाट्यशास्त्र के विद्यार्थी का ध्यान स्वभावतः पुनरुक्तिमय कथावस्तु की ओर से हटकर चरित्र चित्रण की विभिन्नताओं अथवा शैली की रीतियों की ओर आकृष्ट होता है। यहाँ तक कि यदि नाटक में विशेष कथा-वस्तु न भी हो तो उसे इस बात की चिन्ता न होगी। वह तो नाटक की, अधिक रोचक और विविध विचारों से युक्त, शैली की ओर ध्यान देगा। इसीलिये जनता, जिसे नाटक के कथा-सादृश्य का कम ज्ञान है, शैली और चरित्र की अपेक्षा कथावस्तु की ओर अधिक आकर्षित होगी। दूसरी ओर नाटकों का मनन करनेवाला विद्यार्थी, जिसे कथा-सादृश्य का ज्ञान है, कथा-वस्तु की ओर ध्यान ही न देगा। इसलिये जो नाटककार जनता की प्रशंसा चाहते हैं वे चरित्र-चित्रण और शैली की ओर कम ध्यान देकर कथावस्तु की ओर ही अधिक ध्यान दें। उनके नाटकों में उपन्यासों के समान कहानियाँ हों। दर्शकों का ध्यान आकर्षित करने के लिये उनके पास काफ़ी "मसाला" हो, तभी वे जनता की प्रशंसा के पात्र बन सकते हैं, अन्यथा नहीं।

डारलिङ्गटन के इस मत से मैं पूर्णरूप से सहमत इसलिये नहीं हूँ कि वह पाश्चात्य जनता अथवा दर्शकों की रुचि देख रहा है और मैं पूर्वीय जनता की रुचि पर ध्यान दे रहा हूँ। मैं यह मानता हूँ कि दर्शकों को, जो समान रूप से नाटक के तत्वों को नहीं जानते, चरित्रचित्रण और शैली पसन्द नहीं, किन्तु केवल कथावस्तु या कहानी ही भारतीय दर्शक-वृन्दों का मनोरञ्जन नहीं कर सकती। पाठकों की बात दूसरी है। वे एक कोने में बैठकर अपने ही

ध्यान के संसार में पात्रों की कल्पना करके कथावस्तु का आनन्द लूट सकते हैं, पर दर्शकों के साथ बात ही दूसरी हो जाती है। रुचि परिष्कृत न होने के कारण वे कुछ तमाशा देखना चाहते हैं। अतएव कहानी के साथ ही यदि आश्चर्य-जनक घटनाओं का भी समावेश हो तो दर्शकों का कौतूहल और प्रसन्नता दुगुनी बढ़ जायगी और उनके मुख से 'वाह-वाह' की ध्वनि अवश्य निकल आवेगी। इसलिये कौतूहल-वर्द्धक घटनाओं का अस्तित्व कहानी के साथ-साथ ज़रूरी है। तभी नाटककार को प्रशंसा का पुरस्कार मिल सकता है। केवल कहानी द्वारा ही दर्शक-हृदय नहीं समझाया या बहलाया जा सकता।

रंगमञ्च की जनता के विषय को छोड़कर अब रंगमञ्च की विवेचना करना आवश्यक है। नाटकों का अस्तित्व मैं रङ्गमञ्च के सम्बन्ध से ही सार्थक समझता हूँ। पूर्वकाल में भी, जब नाटक शैशवावस्था में था, नाच और वार्तालाप नाटक के अनिवार्य सहायक थे। सत्रहवीं शताब्दी में इङ्गलैण्ड में नाटकों की सूचना पात्रगण नाटक के वस्त्र पहन कर घूम-घूम कर दिया करते थे। नाटक और अभिनय ये दो ऐसी वस्तुएँ हैं जो एक-दूसरे से अलग नहीं की जा सकतीं। मेरे विचार से किसी भी भाँति नाटकों की उत्कृष्टता का निर्णय बिना मञ्च के सम्पर्क के नहीं हो सकता। यदि नाटक प्राण है तो मञ्च उसका शरीर। जो नाटक मञ्च पर खेले जाने पर अपना बहुत सा सौन्दर्य खो देते हैं वे चाहे साहित्य की दृष्टि से कितने ही अच्छे क्यों न लिखे गये हों, पर अच्छे नाटकों की श्रेणी में रखने के सर्वथा अनुपयुक्त हैं। रङ्गशाला में नाटक का महत्त्व मञ्च पर खेले जाने पर है, साहित्यिक ख्याति से नहीं। वहाँ नाटक प्रथमतः अभिनय करने की वस्तु है, फिर साहित्य की उज्ज्वल रत्न-राशि। यह एकान्त सत्य है; पर इसका रूप रङ्गशाला के महारथियों ने बहुत विकृत कर दिया है। वे समझते हैं कि रङ्गमञ्च का अभिनय एक बात है और साहित्य दूसरी बात। नाट्यमञ्च पर अभिनय होनेवाली चीज़ साहित्य हो ही नहीं सकती। बात यह है कि नाटक वस्तुतः कथोपकथन में ही लिखे जाते हैं और इसलिये साधारण बोलचाल की ही भाषा उनमें प्रयुक्त होती है। साधारण बोलचाल की भाषा, जो साधारण जनता में प्रचलित है, साहित्य का स्वरूप कभी ग्रहण नहीं कर सकती। उसकी बोलचाल का अविकल संग्रह साहित्य

नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत जब नाटक के पात्र साहित्यिक भाषा का प्रयोग करने लगते हैं तो वे जीवन की साधारण भाषा से बहुत दूर पड़ जाते हैं और उनके शब्द और वाक्य उपहासास्पद और अ-नाटकीय हो जाते हैं। अतएव यह निश्चय है कि जो वस्तु मञ्च पर कही जाती है वह साहित्य नहीं है और जो साहित्य मञ्च पर लाया जाता है वह नाटकीय नहीं है। अतः यह स्पष्ट है कि नाट्यवस्तु और साहित्य में आकाश-पाताल का अन्तर है। वे कहते हैं कि नाटक बोलने और अभिनय करने की वस्तु है और साहित्य पढ़ने तथा मनन करने की। कला के ये दो रूप एक-दूसरे से बिल्कुल विपरीत हैं।

लगभग चौदह वर्ष हुए, मिस्टर ई० सी० मान्टेग्यू ने इसकी बड़ी खोज की थी। अन्त में उनके कथन का तात्पर्य यही था कि नाटक जितने ही अधिक साहित्यिक होंगे उतने ही अधिक वे रङ्गमञ्च के अयोग्य और जितने ही अधिक वे रङ्गमञ्च के योग्य उतने ही अधिक वे अ-साहित्यिक होंगे। यही सिद्धान्त अमेरिका के एक प्रसिद्ध अभिनेता मिस्टर जेम्स के० हैकेट ने प्रदर्शित किया है। उन्होंने मिस्टर डार्लिंगटन को एक पत्र में लिखा है—

"......अभिनीत होनेवाले (असाहित्यिक) और अभिनीत न होने वाले (साहित्यिक) नाटक के विषय में जो विचार हैं वे एकान्त सत्य हैं और अनुभवी मनुष्य उसमें शङ्का न करेगा। इसके बाद उन्होंने अपने कालेज के दिनों की घटना का जिक्र किया, जब वे वक्तृता का पदक लेने की कोशिश कर रहे थे। वक्तृता देनेवालों के लिये यह आवश्यक था कि वे प्रथम वक्तृता लिखकर अंग्रेज़ी विभाग में उसकी एक प्रति दे दें। कुछ सप्ताह के बाद मुझे प्रोफ़ेसर साहब ने बुलाया और भर्त्सना पूर्ण शब्दों में कहा—'मिस्टर हैकेट, मुझे तुमसे यह आशा नहीं थी। तुमने तो ऐसा खराब लिखा है कि उसे दुबारा पढ़ने की तबियत ही नहीं होती। यह फेंक देने लायक चीज़ है। यदि तुम्हारा निर्णायक मैं होता तो तुम्हें शून्य देता।"

मैंने उत्तर दिया—"प्रोफ़ेसर साहब, यह वक्तृता कहने या सुनने की वस्तु है; सोचने-समझने या अध्ययन करने की सामग्री नहीं। वक्तृता और साहित्य ये दोनों भिन्न-भिन्न विषय हैं। एक के द्वारा हम श्रवण-शक्ति को उत्तेजित करते हैं, दूसरे से मनन और अध्ययन-शक्ति की।"

इसी प्रकार नाटक और साहित्य में अन्तर है। नाटक खेलने और बोलने की वस्तु है, साहित्य मनन करने की। न तो नाटक साहित्य हो सकता है और न साहित्य नाटक ही। नाटककार यही तो भूल करते हैं कि वे नाटक को प्रकाशित करा के साहित्य के समान पढ़ने और अध्ययन करने की वस्तु बना देते हैं।

नाटक को साहित्य से भिन्न स्थान देने के लिये मंचवालों का दूसरा विरोध यह है कि नाटक का कोई अवतरण साहित्यिक दृष्टि से चाहे कितना ही सुन्दर और मनोहर क्यों न हो, पर मञ्च के अनुसार परीक्षा लेने पर यह ज्ञात हो जायगा कि उसमें नाटकीय तत्त्व बिलकुल नहीं है। उन अवतरणों में कविता का ध्यान अधिक रखा जाता है, नाटक का नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि अमुक अवतरण काव्य की दृष्टि से बहुत उत्कृष्ट है, किन्तु वह नाटक के कार्य-व्यापार को आगे बढ़ाने में कितनी सहायता देता है! ऐसे अवतरण केवल साहित्य के लिये मणि हैं, पर मञ्च के लिये निरर्थक काँच के टुकड़े। इसलिये साहित्यिक नाटक मञ्च से बहुत दूर जा गिरते हैं।

प्रत्येक मञ्च का कार्य-कर्त्ता इस बात से सहमत है कि नाटक में सौन्दर्य्य और सजावट रहना अनिवार्य्य है। वह सौन्दर्य्य या तो बाह्य हो या आन्तरिक। भाँति-भाँति के रंग-बिरंगे कपड़े, तरह-तरह के दृश्यमय पर्दे, प्रकाश आदि सभी बाह्य सौन्दर्य की वस्तुएँ हैं। इनका रहना वर्तमान रंगमञ्च में अनिवार्य-सा है। क्या मञ्च-महाशय उत्तर दे सकते हैं कि अनेक प्रकार के वस्त्राभूषण, परदे और प्रकाश नाटकीय कथा के कौन से भाग हैं? यदि वे नाटकीय कथा के भाग नहीं हैं, अथवा नाटकीय कार्य-व्यापार को आगे नहीं बढ़ाते तो नाटक में उनका अस्तित्व क्यों है? मैं इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दे सकता हूँ कि उपर्युक्त वस्तुएँ यद्यपि नाटकीय कथा-वस्तु में कोई स्थान नहीं रखतीं, तथापि वे दो कार्य करती हैं, जिनसे उनका मञ्च पर रहना सार्थक और आवश्यकीय हो जाता है। प्रथम तो वे दर्शकों की सौन्दर्योपासक भावना की तृप्ति करती है और दूसरे पर्दे की ओट में रहने वाले कथानक पर दर्शकों की कल्पनाशक्ति को दौड़ा कर तत्कालीन दृश्य को अप्रत्यक्ष रूप से दिखाती हैं। दर्शक-गण बिना बाह्य सौन्दर्य्य के नाटक के रूप को उसी प्रकार अरुचि से देखेंगे जिस प्रकार मलेरिया का रोगी कड़वी कुनैन को देखता है। ठीक बाह्य

सौन्दर्य्य की भाँति सुन्दर साहित्यिक अवतरण नाटक का आन्तरिक सौंदर्य है। साहित्यिक अवतरण भी जनता की सौंदर्य्योपासक भावना की तृप्ति करते हैं और साथ-साथ कथानक के वातावरण का निर्माण भी।

साहित्यिक नाटककारों का कथन है कि नाटककार को दर्शकों से क्या मतलब ? वह मञ्च के चौखटे में अपने नाटक का चित्र क्यों कस दे ? उसे तो कला-रूप से नाटक की रचना और उसी की उत्कृष्टता से काम है। दर्शकों और मञ्च का विषय तो मञ्च-सञ्चालक का है। सच्चे कलाकार से और दर्शकों से क्या सम्बन्ध ? उस नाटककार को, जो सच्ची कला के रूप की अवतारणा करता है, इन साधारण झंझटों से क्या सरोकार ? उसके उत्कृष्ट आदर्श के सामने दर्शक-वृन्दों और मञ्च का मामला रखना उसे स्वर्ग से खींचकर नरक में गिराना है ! आत्म-प्रदर्शन के लिए ही उसकी कला है। वह तो "स्वान्तः-सुखाय" लिखता है। उसे क्या पड़ी है जो वह दर्शकों को—चाहे वे अच्छे हों, या बुरे हों—रिझाने के लिये करे ? इस प्रश्न का उत्तर विलियम आर्चर ने अपनी प्ले-मेकिंग (Play Making) पुस्तक में बड़ी अच्छी तरह से दिया है। वे लिखते हैं, जो कलाकार इसी तरह सोचना पसन्द करते हैं उनसे मुझे कुछ नहीं कहना है। उन्हें पूरा अधिकार है कि वे चाहे जिस प्रकार अपने नाटकों में (जो शायद ही नाटक कहे जा सकते हैं !) अध्ययन या अभि-नय रखें, अपना आत्म-प्रदर्शन करें। किन्तु जो नाटककार वास्तव में आत्म-प्रदर्शन करना चाहता है उसे मञ्च की आवश्यक सहायता लेनी ही पड़ेगी। एक चित्रकार चाहे "स्वान्तःसुखाय" सुन्दर चित्र खींचे, मूर्तिकार मूर्ति बनाये, गायनाचार्य गीत गाये, किन्तु नाटककार बिना मञ्च के सहयोग के आत्म-प्रदर्शन कर ही नहीं सकता। बिना मञ्च के अस्तित्व के नाटक के कुछ मानी नहीं होते। वह जीवन का ऐसा प्रदर्शन है जो मञ्च के वातावरण में ही हो सकता है, अन्य स्थान पर नहीं। इसीलिए तो उपन्यास और नाटक में बड़ी भिन्नता है। एक का दिग्दर्शन हृदय पर होता है, दूसरे का मञ्च पर।

अतएव अब हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि रङ्गमञ्च और साहित्य से युद्ध नहीं, वरन् शुद्ध सन्धि है। हमारे हिन्दी नाटककारों को मञ्च की आवश्यक-ताओं को ध्यान में रखकर ही नाटक लिखना चाहिए। मञ्च की अवहेलना

कर निरे साहित्यिक नाटकों से हिन्दी का नाट्यक्षेत्र गौरवान्वित नहीं हो सकता।

वर्तमान हिन्दी-नाटकों का समूह दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। पहले प्रकार के वे नाटक हैं जिनमें केवल रङ्गमञ्च का ध्यान रक्खा जाता है। उनमें दर्शकों के कौतूहल-वर्द्धन की सामग्री रहती है। उनमें वास्तविक जीवन का चित्रण नहीं के बराबर रहता है और साहित्य के अस्तित्व का तो पता भी नहीं चलता।

दूसरे प्रकार के वे नाटक हैं जिनमें केवल साहित्य की लड़ियाँ सजाई जाती हैं। ऐसे नाटकों की रचना इस प्रकार की जाती है, मानों उसके सभी दर्शक दार्शनिक अथवा कवि हैं। यद्यपि उसमें जीवन का चित्र, मानवीय भावनाओं का स्पष्टीकरण एवं मनोविज्ञान की स्पष्ट मूर्ति रहती है; पर उनमें मञ्च की साधारण से साधारण सुविधा की ओर ज़रा भी ध्यान नहीं रक्खा जाता। मञ्च की अवहेलना करने पर उच्चकोटि का साहित्यिक नाटक भी वास्तव में आदर्श नाटक नहीं कहा जा सकता।

हमें हिन्दी में ऐसे नाटकों की सृष्टि करनी है जो वास्तव में जीवन की प्रतिकृति होते हुए भी रङ्गमञ्च के सुविधानुसार पूरे उतर आयें। उनमें साहित्य की व्यञ्जना भी यथेष्ट हो और रङ्गमञ्च की आवश्यकताओं की सामग्री भी पूर्णरीति से हो। जिस समय हिन्दी में ऐसे नाटकों की सृष्टि होगी उस समय हमारा हिन्दी नाट्यशास्त्र अन्य उन्नत भाषाओं के नाट्यशास्त्र से समानता कर सकेगा।

नाटकों के अभिनय का समय अधिक से अधिक दो-तीन घंटों तक ही परिमित रहना चाहिए। चीन के नाटकों की बात छोड़ दीजिये, जहाँ एक नाटक में सोलह अङ्क होते हैं और प्रत्येक अङ्क एक घंटे में समाप्त होता है। पर हमें तो तीन घंटे से अधिक समय किसी अभिनय को देना ही नहीं चाहिये। हम एक स्थिति में एक बार सुविधानुसार तीन घंटे से अधिक बैठे भी नहीं रह सकते और न तीन घंटे से अधिक एक ही वस्तु को, अपना ध्यान समेटे हुए, देख ही सकते हैं। ऐसी स्थिति में हमें अधिक समय (जिससे शरीर और मन को असुविधा हो) मनोरञ्जन में नहीं देना चाहिये। यदि कोई नाटककार यह

कहे कि मैं दो या तीन घंटे के भीतर अपने हृदय की सारी भावनाएँ दर्शकों के सामने नहीं रख सकता, तो वह नाटककार समर्थ कलाकार नहीं है। विलियम आर्चर का कहना है कि जो नाटककार दर्शकों अथवा मञ्च की अवहेलना करता है वह केवल अपना सम्मान और लाभ ही नहीं खोता, वरन् अपनी रचना के कलारूप को भी खो देता है। हिन्दी में ऐसे कई नाटक हैं जिनकी पृष्ठ-संख्या दो सौ के लगभग या दो सौ से ऊपर है। ऐसे नाटक तीन घंटे में नहीं खेले जा सकते। उन्हें तीन घंटे में लाने के लिये कतर-ब्योंत की ज़रूरत पड़ेगी। ऐसी स्थिति में यह सम्भव है कि नाटक का साहित्यिक सौन्दर्य बहुत कुछ नष्ट हो जाय। इसलिये इस 'कतर-ब्योंत' से बचने के लिए पहले ही से ऐसा नाटक क्यों न लिखा जाय, जिसमें नाटककार के मुख्य और सुन्दर भावों का प्रदर्शन १२५ पृष्ठों से अधिक न हो।

हिन्दी नाटकों के संकेत शब्द बहुत ही कम लिखे जाते हैं। नाटककारों में यह रुचि ही नहीं है कि वे मञ्च पर अपने विचारानुसार अभिनय करायें। वे तो अपने कार्य की इतिश्री वहीं समझते हैं जहाँ पात्रों के कथोपकथन में अपने हृदय की सारी भावनाओं को भर दिया। इसके बाद वे नाटक से ऐसा हाथ सिकोड़ लेते हैं, मानों उनका उससे कोई सम्बन्ध ही नहीं। पाश्चात्य नाटकों में नाटककार अपनी इच्छा की चीजें मञ्च पर उपस्थित करा लेते हैं। वहाँ मञ्च-संचालक को उनकी आज्ञा में रहना पड़ता है। नाटककार अपने अंक के समयानुकूल जिन-जिन वस्तुओं की आवश्यकता मञ्च पर समझते हैं उन सब चीज़ों का निर्देश कर देते हैं। वे सारी चीजें मंचकर्ता को मञ्च पर उपस्थित करनी पड़ती हैं। पाश्चात्य नाटककार संकेत लिखने में बहुत पटु होते हैं।

इन संकेत-चित्रण में नाटककार वे सब बातें लिख देता जो वह अपने अभिनय के लिये चाहता है, यहाँ तक कि पात्रों की आयु भी लिख देता है। अब संचालक का कर्तव्य है कि वह उल्लिखित आयु के ही पात्र चुने और जो जो वस्तुएँ नाटककार ने लिख दी हैं वे सब मञ्च पर इकट्ठी करे। जब नाटककार अपना नाटक मञ्च के लिये देता है तो उसे अधिकार है कि जो वातावरण या स्थिति वह चाहता है उसे मञ्च पर लाने की आज्ञा दे; किन्तु

हिन्दी नाटककार कदाचित् बहुत संकोची हैं। वे मञ्च-कर्ता को कष्ट नहीं देना चाहते। वे अपना नाटक रङ्गमञ्च में अभिनय करने के लिये दे देने पर बिल्कुल फ़ुर्सत पा जाते हैं। वे नाटक के विकास अथवा कला-रूप में तो पाश्चात्य नाटकों का अनुकरण करते हैं; पर संकेत-लेखन की ओर ध्यान नहीं देते। वे बेचारे मानों मञ्च-कर्ता के हाथों में अपने को और अपने नाटक को सौंपते हुए कहते हैं—"भाई, तुम्हें जैसा अच्छा लगे, वैसा ही कर लो।" यदि मैनेजर अच्छा हुआ तो उसने नाटक को सम्हाल लिया और यदि नाटककार के दुर्भाग्य से खराब हुआ तो नाटक की असफलता का सारा दोष बेचारे नाटककार के सिर पर पड़ता है।

हमारे हिन्दी-नाटकों में भी संकेत-भाषा का उचित प्रयोग होना चाहिये; और साथ ही नाटककारों में अपने नाटक को अपनी रुचि के अनुसार अभिनीत कराने की आकांक्षा उत्पन्न होनी चाहिये।

अब मैं हिन्दी-नाटकों के 'स्वगत-कथन' पर विचार करना चाहता हूँ। हिन्दी-नाटकों में यह 'स्वगत-कथन' का रोग बहुत पुराना है। न जाने कितने वर्षों से यह हिन्दी-नाटकों में जोंक के समान आकर चिपट गया है। पाश्चात्य नाट्यकला में भी हम यही बात पाते हैं। शेक्सपियर के नाटकों में स्वगत-कथन की विशेष मात्रा है। सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में शेक्सपियर ने जो ट्वेलफ्थ नाइट (Twelfth Night) नाम का एक नाटक लिखा है उसमें स्वगत-कथन पाया जाता है। आधुनिक समय में इसका प्रयोग अस्वाभाविक समझ कर घटाया जा रहा है।

स्वगत-कथन हिन्दी-नाटकों की पैतृक सम्पत्ति रहने पर भी अब काम की चीज़ नहीं है। यह नितान्त अस्वाभाविक है कि कोई व्यक्ति अपने आप ही बोलता हुआ चला जाय। न उसके साथ आदमी है न वह स्वयं आदमियों के साथ है; किन्तु वह जो मन में आता है, बोलता चला जाता है। ऐसी स्थिति में या तो हम उसे पागल कहेंगे या शराबी, या अफ़ीमची।

पाश्चात्य नाटककारों ने इस स्वगत-कथन के मिटाने की एक युक्ति सोच रक्खी है। उन्होंने एक नये विश्वास-पात्र की अवतारणा की है। स्वगत-कथन कहनेवाला जो कुछ भी कहना चाहता है वह उस विश्वास-पात्र से

कहता है। इससे वह "अस्वाभाविक प्रलाप" के दोष से बच जाता है। इस युक्ति से पात्र एक दूसरे से वार्तालाप करते हुए स्वगत-कथन से बच जाते हैं। हिन्दी-नाटकों में भी इस दोष के दूर करने का उपाय सोचना चाहिये। या तो पाश्चात्य मंच के अनुसार एक नये पात्र की सृष्टि करनी चाहिये अथवा कोई ऐसी युक्ति निकालनी चाहिये जिससे स्वगत-कथन समुचित जान पड़े।

केवल स्वगत-कथन की पूर्ति करने के लिए नए विश्वास-पात्र पात्रों की सृष्टि करना नाटक में अनावश्यक भरती करना समझा जा सकता है। इसलिए वर्तमान समय में 'मूक-अभिनय' की शैली का प्रादुर्भाव हुआ है। इसमें स्वगत-कथन के स्थान पर शरीर की भिन्न-भिन्न मुद्राओं या इंगितों की सहायता से भाव की अभिव्यक्ति की जाती है। पाश्चात्य देशों में इस नवीन परिपाटी में सफलता-पूर्वक अभिनय किया जाने लगा।

हिन्दी-नाटकों में एक दोष और भी है। वह पद्य में बोलने का है। जिस स्थान पर उत्साह, क्रोध, करुणा आदि का प्रदर्शन करना पड़ता है, उस स्थान पर नाटककार शीघ्र ही गद्य से पद्य में लिखने लगता है। यदि नाटक जीवन की छाया है, उसके अङ्गों का प्रदर्शन है, तो उसमें जीवन का चित्र भी रहना चाहिये। हम कभी अपने जीवन के साधारण व्यवहार में पद्य का प्रयोग नहीं करते। यदि ऐसा होता तो सारा संसार ही कवि बन जाता है। साधारण बोल-चाल ही जब हमारे भावों को प्रदर्शित करने के लिए पर्याप्त है तो हमें उसमें पद्य लाने की आवश्यकता ही क्या है? यदि हम पद्य में अपने दैनिक भावों का प्रदर्शन करें और अपने मित्र से, साधारण बोल-चाल में, अपने सम्बन्धियों से साधारण व्यवहार में—

"भूख लगी है, थाली परसो,
अब न करो थोड़ी भी देर।"

कहें तो वे इसे हँसी-दिल्लगी समझेंगे।

कहने का तात्पर्य यह है कि जब नाटक में हम अपने जीवन की घटनायें देखना चाहते हैं तो उनका चित्रण ठीक वैसा ही होना चाहिए जैसा

साधारणतः होता है। किन्तु हिन्दी-नाटकों में अब तक ऐसा नहीं किया जाता। जो स्थल शोक, क्रोध, चिन्ता, वीरत्व आदि के हैं उनमें पात्र गद्य कहते-कहते पद्य भी कहने लगता है।

अब मुझे अभिनय के विषय में कुछ कहना है। अभी तक हमारा रंग-मञ्च अच्छे अभिनेताओं से सूना है। उसका एक कारण है। भारतवर्ष का सभ्य समाज मञ्च को निकृष्ट स्थान समझता है और वहाँ उन्हीं लोगों की कल्पना करता है जो ज्ञान और मान से रहित हैं। एक धार्मिक कथा है, जो किसी समय 'कलकत्तारिव्यू' में प्रकाशित हुई थी। उसका सार यह है कि नाटक की प्रारम्भिक अवस्था में गन्धर्वों और अप्सराओं ने किसी प्रहसन में ऋषि-मुनियों का मज़ाक उड़ाया था। इस पर ऋषियों ने क्रोध में आकर अभिनेताओं को शाप दिया कि तुम समाज में अपमानित होकर नीची श्रेणी पाओ और शूद्रों के समकक्ष बने रहो। इसी कथा में विश्वास रखकर शायद समाज अपने अच्छे-अच्छे पुरुष रंगमञ्च पर नहीं भेजना चाहता। किन्तु अब समय की गति बदल रही है। नाट्यकला का आदर चारों ओर हो रहा है। अभिनेताओं का सम्मान संसार में आश्चर्य की वस्तु है। अभी उस दिन प्रसिद्ध हास्यअभिनेता चार्ली चैपलिन संसार के सबसे बड़े आदमियों में परिगणित किया गया था। ऐसी स्थिति में जब संसार नाट्य और मञ्च-कला में आगे बढ़ रहा है, तब केवल हिन्दी-संसार ही क्यों पीछे रहे! अब समाज को अपनी विचार-धारा दूसरी ओर मोड़ देनी चाहिये। उसे भी संसार के मञ्च पर अपने उत्कृष्ट कलाकार अभिनेताओं को भेजना चाहिये। पाश्चात्य देशों ने तो इस कला को सिखलाने के लिये ट्रेडयूनियन की तरह संस्थाएँ स्थापित कर ली हैं और बाज़ार के नियमों की भाँति जितनी अभिनेताओं की माँग होती है उतनी पूर्ति वे लोग करते हैं। ऐसा करने से इस व्यवसाय का महत्व कम नहीं होने पाता। हिन्दी मञ्च में भी जिस दिन इस प्रकार माँग की पूर्ति होगी वह दिन हिन्दी मञ्च की उन्नति का सच्चा दिन होगा।

हिन्दी-मञ्च में एक बात की और भी कमी है और वह यह कि स्त्रियाँ नाट्यकला में भाग नहीं लेतीं। प्राचीन समय के नाटकों में स्त्रियाँ बराबर भाग लेती थीं। गन्धर्वों के साथ अप्सरायें भी नृत्य और गान करती थीं,

किन्तु इस समय मञ्च पर पुरुष ही स्त्री का काम चला लेते हैं। इसके दो कारण हैं एक तो परदा और दूसरा शिक्षा का अभाव। ये दोनों बातें पाश्चात्य समाज में नहीं हैं। अतएव वहां स्त्रियां स्वतन्त्रता-पूर्वक रङ्गमञ्च पर आती हैं। हमें आशा है कि वह दिन शीघ्र ही आयेगा, जब स्त्रियां भी अपनी सुकुमार कला से हिन्दी-रङ्ग मञ्च को गौरवान्वित करेंगी।

---

(११)

हास्य का मनोविज्ञान

ले०—श्री कृष्णदेवप्रसाद गौड़, एम० ए०, एल्-टी०

हँसी क्यों आती है? किसी बात अथवा किसी स्थिति के भीतर कौन-सी ऐसी वस्तु है जिसे सुनकर या देखकर लोग खिलखिला पड़ते हैं? जब शब्दों में श्लेष का व्यवहार होता है, जब कोई विचित्र आकार हम देखते हैं, जब हम सड़क पर किसी को बाइसिकल से फिसल कर गिरता देखते हैं अथवा जब किसी अभिनेता की विचित्र भावभंगी देखते हैं, हमें हँसी आ जाती है। क्या इन सब व्यापारों में कोई ऐसी बात छिपी है जो सब में सामान्य है? प्राचीन साहित्य-शास्त्रियों ने शृङ्गार रस के अन्वेषण में इतनी छान-बीन की कि मालूम होता है, और रसों की सूक्ष्मता पर विचार करने का उन्हें अवकाश ही न मिला। हाँ, हास्य को उन्होंने एक रस माना है अवश्य। इसका स्थायी भाव हँसी है—शब्द, वेश, कुरूपता इत्यादि उद्दीपन हैं। परंपरा के अनुसार इसके देवता, रंग, विभाव, अनुभाव, सब स्थिर कर लिए गए। यह भी बताया गया कि हँसी कितने प्रकारों की होती है। यह सभी बाह्य बातें हैं। जहाँ उद्दीपनों की व्याख्या इस रस के संबंध में की गई वहाँ इसका भी विश्लेषण होना चाहिए था कि क्यों उन्हें देख-सुनकर हँसी आ जाती है। अरस्तू तथा अफलातून जैसे विद्वानों ने इस पर प्रकाश डालने की चेष्टा की; पर असफल रहे। पाश्चात्य दार्शनिक सली, स्पेंसर आदि ने भी इस पर विवाद किया है।

अधिकांश विद्वानों ने इसी तर्क में अपनी शक्ति लगा दी है कि किस बात पर हँसी आती है। क्यों हँसी आती है, इधर कम लोगों ने ध्यान दिया है।

प्रत्येक परिहासपूर्ण विषय में तीन बातों का समावेश होना आवश्यक है। पहली बात जो सब हँसी की बातों में पाई जाती है, वह है 'मानवता'। बहुत से लोगों ने मनुष्य को वह प्राणी बतलाया है जो हँसता है। कोई प्राकृतिक दृश्य हो, बड़ा मनलुभावना हो, सुंदर हो, परंतु उसे देखकर हँसी नहीं आती। हाँ, किसी पेड़ की डाली का रूप किसी मनुष्य के चेहरे के आकार के समान बन गया हो, अथवा किसी पर्वत-शिला का रूप किसी व्यक्ति के अनुरूप हो तो उसे देखकर अवश्य हँसी आ जाती है। कोई विचित्र टोपी या कुर्सी देखकर भी हँसी आजाती है; परंतु सचमुच यदि हम ध्यान दें तो टोपी अथवा कुर्सी पर हँसी नहीं आती, बल्कि मनुष्य ने जो उसका रूप बना दिया है उसे देखकर हँसी आती है। इसी प्रकार सभी ऐसी बातों के संबंध में—जिन्हें देख या सुन या पढ़कर हँसी आती है—यदि हम विचार करें तो जान पड़ेगा कि उसके आवरण में मनुष्य किसी न किसी रूप में छिपा है। दूसरी बात जो हँसी के विषय में आचार्यों ने निश्चित की है वह है वेदना अथवा करुणा का अभाव। भारतीय शास्त्रियों ने भी करुण रस को हास्य का विरोधी माना है। जब तक मनुष्य का हृदय शांत है, अविचलित है, तभी तक हास्य का प्रवेश हो सकता है। जहाँ कारुणिक भावों से हृदय उद्वेलित हो वहाँ हँसी कैसे आ सकती है ? भावुकता हास्य की सब से बड़ी शत्रु है। इसका अर्थ यह नहीं है कि जो हमारी दया का पात्र है, अथवा जिस पर हम प्रेम करते हैं, उस पर हम हँस नहीं सकते। परन्तु उस अवस्था में, क्षण ही भर के लिये सही, हमारे मन से प्रेम अथवा करुणा का भाव हट जाता है। बड़े-बड़े विद्वानों की मंडली में, जहाँ बड़े परिपक्व बुद्धिवाले हों, रोना चाहे कभी न होता हो, हँसी कुछ न कुछ होती ही है। परन्तु जहाँ ऐसे लोगों का समुदाय है जिनमें भावुकता की प्रधानता है—बात-बात में जिनके हृदय पर चोट लगती है, उन्हें हँसी कभी आ नहीं सकती। तुलसीदास का एक सवैया है—

विंध्य के बासी उदासी तपोब्रतधारी महा बिनु नारि दुखारे।
गौतमतीय तरी तुलसी सो कथा सुनि भे मुनिबृन्द सुखारे॥

ह्वै हैं सिला सब चंद्रमुखी परसे पद मंजुल कंज तिहारे।
कीन्ही भली रघुनायक जू करुना करि कानन को पगु धारे॥

इस कविता में व्यंग द्वारा जो परिहास किया गया है उसके कारण सहज ही में हंसी आ जाती है; परंतु यदि हम इसे पढ़कर उस काल के साधुओं के आचरण पर सोचने लगें तो हास्य के स्थान पर ग्लानि उत्पन्न होगी। संसार के प्रत्येक कार्य के साथ यदि सब लोग सहानुभूति का भाव रक्खें तो सारे संसार में मुर्दनी छा जाएगी। सब लोगों के हृदय की भावनाओं के साथ हमारा हृदय भी स्पंदन करे तो हँसी नहीं आ सकती, और वही यदि तटस्थ रहकर संसार के सभी कृत्यों पर उदासीन व्यक्ति की भाँति देखा जाय तो अधिक बातों में हँसी आ जाएगी। देहाती स्त्रियाँ किसी आत्मीय के मर जाने पर बड़ा वर्णन करके रोती हैं। यदि कोई उनका रोना सुने, पर यह उसे विश्वास हो कि कोई मरा नहीं है, तो सुननेवाले को हँसी आ जाएगी। रोने का अभिनय जो कितने अभिनेता करते हैं उसे सुनकर रुलाई नहीं आती, बल्कि हँसी; क्योंकि वहाँ वेदना का अभाव है। दूसरा उदाहरण लीजिए। कहीं नाच होता हो और गाना एकदम बंद कर दिया जाय और बाजा भी, तो नाचनेवाले को देखकर तुरंत हँसी आ जाएगी। हँसी के लिए आवश्यक है कि थोड़ी देर के लिये हृदय बेहोश हो जाय। भावुकता की मृत्यु तथा सहानुभूति का अभाव हास्य के लिये जरूरी है। हँसी का संबंध बुद्धि और समझ से है, हृदय से नहीं। इसी के साथ तीसरी एक और बात है। बुद्धि का संबंध और लोगों की बुद्धियों से बना रहना चाहिए। अकेले विनोद का आनन्द कैसे आ सकता है? हास्य के लिये प्रतिध्वनि की आवश्यकता है। जब कोई हँसता है तब उसे सुनकर और लोग भी हँसते हैं और हँसी गूँजती रहती है। परन्तु हँसनेवालों की संख्या अपरिमित नहीं हो सकती; एक विशेष समुदाय या समाज हो सकता है जिसे किसी विशेष बात पर हँसी आ सकती है। सामयिक पत्रों में जो व्यंग-विनोद की चुटकियाँ प्रकाशित होती हैं उनका आनन्द इसी कारण सबको नहीं आता; जिन्हें कुछ बातें मालूम हैं उन्हीं हो हँसी आ सकती है। इसी प्रकार साधारणतः सब बातों में होता है॥ दस व्यक्ति बातें करते हैं, और हँसते हों—जिन्हें उन बातों का संकेत मालूम है वे तो हँसते हैं, और लोग

बैठे बातें सुनते भी हैं तो हँसी नहीं आती। एक भाषा के विनोदात्मक लेखों का सफल अनुवाद दूसरी भाषा में इसी कारण साधारणतः नहीं होता कि पहले देश की सामाजिक अथवा घरेलू अवस्था दूसरे से भिन्न है।

उपर्युक्त तीनों बातें प्रत्येक हास-परिहास के व्यापार के भीतर छिपी रहती हैं—चाहे वह व्यंग-चित्र हो, हास्याभिनय हो, व्यंगपूर्ण लेख अथवा कविता हो, इन तीन बातों की भित्ति पर यदि ये बने हैं तो हँसी आ सकती है, अन्यथा नहीं। यों तो सूक्ष्म विचार करने से हास्य का और भी विश्लेषण हो सकता है; पर यहाँ हम केवल एक बात और कहेंगे। हँसी के लिये यह आवश्यक है कि प्रत्येक वस्तु में साधारणतः जो बातें हम देखते, सुनते, समझते या पाने की आशा करते हैं, उनमें सहसा या शनैः शनैः परिवर्त्तन हो जाय। यह भेद स्थान अथवा समय का हो सकता है। जिस स्थान पर जो बात होनी चाहिए उसका अभाव, अथवा न होना चाहिए उसका होना, हँसी पैदा कर देता है—यदि उसमें, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, गंभीरता का भाव न आने पाए। इसी प्रकार जिस समय जो बात होनी चाहिए या जिस समय जो न होना चाहिए, उसमें उस समय कोई बात न होना या होना। मुझे याद है, एक बार एक मित्र के यहाँ तेरहवीं के भोज में हम लोग गए थे। कुछ मित्र एक ओर बैठे हँसी-मजाक कर रहे थे और जोर-जोर से हँस रहे थे। यह देखकर जिसके यहाँ हम लोग गये थे उसने कहा कि आप लोगों को मालूम होना चाहिए कि आप लोग गमी की दावत में आये हैं। यह सुनकर एक बहुत सीधे सज्जन ने उत्तर दिया कि फिर ऐसे मौके पर आएँगे तो न हसेंगे। इसे सुनकर बड़े जोरों का कहकहा लगा। बात असामयिक थी और ऐसा न कहना चाहिए था; पर कहे जाने पर कोई हँसी न रोक सका। यहाँ पर साधारणतः जो व्यवहार मनुष्य को करना चाहिए था, अथवा जैसा सब लोग समझते थे कि ऐसे अवसर पर लोग व्यवहार करेंगे, उससे विपरीत बात हुई, इसी कारण हँसी आ गई। एक आदमी चला जा रहा है, रास्ते में केले का छिलका पैर के नीचे पड़ता है और वह गिर पड़ता है; सब लोग हँस पड़ते हैं। यदि वह मनुष्य यकायक न गिरकर चलते-चलते धीरे से बैठ जाता तो लोग न हँसते। वास्तव में जब किसी को लोग चलते देखते हैं तब यही आशा करते हैं कि वह चलता

जायगा। पर वह जो यकायक बैठ जाता है, इस साधारण स्थिति में यकायक परिवर्त्तन हो जाने के कारण हँसी आ जाती है। एक बार मेरे स्कूल के पास एक बारात ठहरी हुई थी। तंबू के नीचे नाच हो रहा था। तंबू की रस्सी मेरे स्कूल की दीवार में कई जगह बँधी हुई थी। कुछ बालकों ने शरारत से इधर की सब रस्सियाँ खोल दीं। एक ओर से तंबू गिरने लगा। यकायक सारी मंडली में भगदड़ मच गई। जितने लोग बाहर देख रहे थे, महफ़िलवालों के भागने पर बड़े जोर से हँसने लगे। यह जो स्थिति में सहसा परिवर्त्तन हो गया, वही हँसी का कारण था। इसी प्रकार, कार्टून अथवा व्यंग-चित्र को देखकर हँसी इसलिये आती है कि जहाँ जिस वस्तु की आवश्यकता है, वहाँ उससे भिन्न—अनुपात से विरुद्ध—वस्तु मौजूद है। जहाँ डेढ़ इंच की नाक होनी चाहिए वहाँ तीन इंच की, जहाँ दो फीट के पैर होने चाहिएं वहाँ पाँच फीट के रहते हैं। हाजिरजवाबी की बातों पर भी इसीलिये हँसी आती है कि जैसे उत्तर की आशा सुननेवाले को नहीं है वैसा श्लिष्ट, द्व्यर्थक अथवा चमत्कारपूर्ण उत्तर मिल जाता है। यहाँ साधारण से भिन्न अवस्था हो जाती है। हाँ, यहाँ भी गंभीरता का भाव हृदय में न आना चाहिए।

ऊपर यह कहा गया है कि गंभीरता अथवा सहानुभूति का अभाव हास्य के लिये आवश्यक है। यह इसलिये कि करुणा, क्रोध, घृणा आदि हास्य के वैरी हैं। हास्य से गंभीरता का इस प्रकार एक विचित्र तारतम्य है। किसी गंभीर बात पर साधारण सा परिवर्त्तन होने पर हँसी आ जाती है; पर यही हँसी धीरे-धीरे फिर गंभीरता धारण कर सकती है।
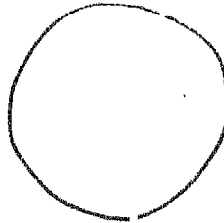
मान लीजिए, कोई सज्जन कहीं जाने के लिये कपड़ा पहनकर तैयार हैं और पान माँगते हैं। स्त्री एक तश्तरी में पान लेकर आती है। वे पान खाते हैं। यहाँ तक कोई हँसी की बात नहीं है, न हँसी आती है; पूरी गंभीरता है। अब मान लीजिए कि पान में चूना अधिक है। खाते ही जब चूना मुँह में काटता है तो खानेवाला मुँह बनाता है। आप को उसे देखकर हँसी आती है। अब वह पान थूकता है और अनाप-शनाप बकने लगता है। इस समय वह हास्यास्पद हो जाता है। इसी क्रोध में वह तश्तरी उठाकर अपनी स्त्री के ऊपर फेंक देता है। अब उसे देखकर हँसी नहीं आती, बल्कि घृणा होती है। इसके बाद हम देखते हैं कि स्त्री के हाथ में तश्तरी से चोट आ गई है। अब हमें क्रोध आ जाता है और पुनः हम गंभीर हो जाते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि गंभीरता का विचार-मात्र हास्य के लिये घातक है। साथ ही यह भी है, कि गंभीरता की जब अति होने लगती है तब हास्य की उत्पत्ति होती है। हास्य की मनोवृत्ति केवल बुद्धि पर अवलंबित है। यह समझना भूल है कि बुद्धिमान् लोग नहीं हँसते। गंभीर लोग नहीं हँसते, गंभीर लोगों पर हँसी आती है। हाँ, हास्य की पूर्त्ति के लिये व्यंग एक आवश्यक वस्तु है। वह सूक्ष्म से सूक्ष्म हो सकता है और भद्दा से भद्दा। प्राचीन संस्कृत एवं हिन्दी-साहित्य में, विशेषतः कविता में, और अँगरेजी साहित्य में भी, प्रचुर परिमाण में व्यंगपूर्ण परिहास मिलता है। व्यंग में भी सामान्य अथवा साधारण स्थिति में जो होना चाहिए उसके अभाव की ओर संकेत रहता है, इसी से उसे पढ़कर या सुनकर हँसी आती है।

---

(१२)

भारतीय काव्य-दृष्टि

ले०—कविवर पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी "निराला"

महर्षियों ने दर्शनों से विश्व को जो सत्य दिया, वह कभी बदलता नहीं। वह काल से अभेद तथा भिन्न भी है, इसलिये अमर और अक्षय है। वह न

पुरुष है, न स्त्री, इसलिये उसे "तत सत्" कहा। वह आजकल की विश्व-भावना विश्व-मैत्री आदि कल्पना-कलुषित बुद्धि से दूर, वाणी और मन की पहुँच से बाहर है, जड़ की सहायता से वह अपनी व्याख्या नहीं करना चाहता, इस तरह उसमें जड़त्व का दोष आ जाता है, वह स्वयं ही प्रकाशमान् है—बिनु पद चलै सुनै बिनु काना, कर बिनु कर्म करै विधि नाना—आदि-आदि से कर्ता भी वही है, जड़ में कर्म करने की शक्ति कहाँ? मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार को शास्त्रकारों ने जड़ कहा है, क्योंकि वे पंचभूतों के जड़ पिंड का आश्रय लिये हुए हैं, और मृत्यु होने पर कारण-शरीर में तन्मय रहते हैं—इन्हें लिंग-ज्ञान भी है—इस तरह जड़त्व-वर्जित न होने के कारण इन्हें भी, ब्रह्म से बहिर्गत कर, जड़ कहा है, यद्यपि ब्रह्म के प्रकाश को पाकर ही ये क्रियाशील होते हैं। कुछ हो, ये सब यंत्र ही हैं, कर्ता वही है और उसके कर्तृत्व का एकाधिकार समझ कर ही उसे "कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः" कहा है।

इस तरह कवि भी ब्रह्म ही सिद्ध होता है, जड़ शरीर से ध्यान छूट जाता, जड़ शरीर वाले कवि की आत्मा दीख पड़ती है। इसकी स्पष्ट व्याख्या इस तरह होगी—जैसे बालक कवि में कविता करने की शक्ति न थी, शक्ति का विकास हो रहा था, न मन में सोचने की शक्ति थी, न अंगों में संचालन-क्रिया की। धीरे-धीरे, शक्ति के विकास के साथ-ही-साथ जिस जाति और वंश में वह पैदा हुआ—उसके संस्कारों को लिये हुए, वह बढ़ने लगा, पढ़ने लगा, अपने व्यक्तित्व पर ज़ोर देकर बड़ा होने लगा। उसे अपनी रुचि का अनुभव हुआ, इस तरह चेतन और जड़ का मिश्रित प्रवाह उसके भीतर से अपनी सत्ता को संसार की अनेक सत्ताओं से विश्लिष्ट कर बहने लगा। एक दिन उसे मालूम हुआ, उसकी रुचि कविता पर अधिक है। यहाँ, इस रुचि को पकड़िए, यह जहाँ से आई है, वह ब्रह्म है, जहाँ अब उसकी बाह्य शिक्षा ठहरेगी—जिस तरह से वह भविष्य में कवि होगा, वह केन्द्र भी ब्रह्म ही है, जीवात्मा का संयोग लिये हुए। इस तरह भारतीयों ने ब्रह्म को ही कवि स्वीकार किया है। यह रुचि या इच्छा क्यों पैदा होती है, इसका कारण अभी तक नहीं बतलाया जा सका, यहाँ भारतीय शास्त्र मौन हैं, और है भी यही यथार्थ उत्तर, क्योंकि, जब एक के सिवा दूसरा है ही नहीं, तब उस एक की रुचि का कारण कौन

बतलाए ! इसलिये ही कहा है नमक का पुतला समुद्र की थाह लेने के लिये जाकर गल गया, ख़बर देने के लिये न लौटा।

भारत की कविता में भी एक विचित्र तत्त्व है। थोड़ी देर के लिये ब्रज-भाषा को जाने दीजिए, संस्कृत को लीजिए। और ब्रजभाषा के शृंगारी कवियों को दुनाली बन्दूक़ के सामने रखकर, "Strike but hear" के अनुसार ज़रा सुन भी लीजिए। संस्कृत-काल के व्यास और शुकदेव प्रसिद्ध ऋषि हैं। शुकदेव की जीवनी किसी भारतीय से अविदित न होगी। इन दोनों महापुरुषों का स्मरण कर भागवत भी देखिए, एक ओर कवि के गहन वैदान्तिक विचार और दूसरी ओर गोपियों के शृंगार-वर्णन में अश्लीलता की हद, जैसा कि आजकल के विद्वान् कहेंगे। उधर गीत-गोविंद के प्रणेता भी कितने बड़े वैष्णव और भक्त थे, यह किसी पढ़े-लिखे महाशय से छिपा नहीं है। उनके भी—

"गोपी-पीन-पयोधर-मर्दन-चंचल-कर-युगशाली—
धीर-समीरे यमुना-तीरे वसति वने वनमाली"—

अयि प्रिये, "मुंच मयि मानमनिदानम्"—आदि देखिए। और इधर फिर विद्यापति, जिनके—

"चरन-चपल-गति लोचन नेल"
"चरन-चपलता लोचन नेल"

पद्य हैं। विद्यापति भी प्रसिद्ध चरित्रवान् थे, नौकर के रूप से रहकर जिन्हें भगवान् विश्वनाथ ने दर्शन देने की कृपा की। आजकल की प्रचलित अश्लीलता का प्रसंग सामने आने पर शायद वे अपने किसी भी समान-धर्मी से घट कर न होंगे—

"दिन-दिन पयोधर भै गेल पीन;
बाढ़ल नितम्ब माझ भेल खीन।
"थरथरि काँपल लहु-लहु भास;
लाजे न वचन करइ परकास।"
"नीविबन्धन हरि काहे कर दूर;
एहो पै तोहार मनोरथ पूर।"

आदि-आदि—अश्लील से अश्लील वर्णन उन्होंने किए हैं।

यही हाल बँगला के प्रथम और सर्वमान्य कवि चंडिदास का रहा, जिन्हें देवी के साक्षात् दर्शन हुए और कृष्ण की मधुर रस से उपासना करने की, देवी के आचरण से, जिनको प्रवृत्ति हुई—अवश्य औरों की तरह वे अश्लील नहीं हो सके। इधर व्रजभाषा में भी यही दशा रही। संस्कृत के प्रसिद्ध श्रीहर्ष और कालिदास का तो ज़िक्र ही नहीं किया गया।

हिन्दी में भी राम और कृष्ण का साहित्य वेदांत का रूपक है। ऐतिहासिकता उसमें नहीं भी हो सकती। पर तत्त्व है। प्राकृत अवस्था है। इसलिये ऐतिहासिकता में सत्य का भान है; अतएव वह इतिहास सत्य भी हो सकता है। पश्चिम के विद्वान् राम और कृष्ण को इतिहास-पुरुष नहीं मानते। यहाँ वाले साबित करते हैं। यह बहुत साधारण कोटि के सिद्धांत को लेकर प्रयत्न किया जाता है। क्योंकि इतिहास-सत्य से तत्त्व और भी बड़ा है। जिस सभ्यता के प्रदर्शन के लिये इतिहास की आवश्यकता है, वह राम और कृष्ण के साहित्य में बड़ी खूबी से, बहुत बड़े ज्ञान के भीतर, अर्णव-पोत की भाँति, प्रतिष्ठित है।

रामायण की भूमिका में ही तुलसीदासजी ने राम का यथार्थ मतलब लिख दिया है; जगह-जगह उस पर जोर भी दे रहे हैं—"रघुपति-महिमा अगुण अबाधा; बरनब सोई बर बारि अगाधा।" राम का निर्गुण निर्बाध महिमा ही रामचरित-मानस सरोवर का निर्मल अगाध जल है। यह राम का यथार्थ रूप है। फिर "बन्दौं राम-नाम रघुबर के; हेतु कृषानु, भानु, हिमकर के।" यहाँ बाहर भी सब सृष्टि जीव-जगत् में राम की बीजरूप सत्ता रही—अब आकार नहीं रहा। पर चूँकि आकारों में भी पुरुष-प्रकृति-रूप से वही है, इसलिये—"राम-सीय-यश-सलिल सुधासम; बरनत बीचि-विलास मनोरम।" रूपों को उस जल की ही तरंगें बतलाया। सात काण्ड रामायण शरीर के सात चक्रों का रूपक है। हर शरीर रामायण है। उसके सात काण्ड हैं—(१) मूलाधार (२) स्वाधिष्ठान (३) मणिपूर (४) अनाहत (५) विशुद्ध (६ आज्ञा (७) सहस्रार। मूलाधार में शक्ति का स्थान है। यह चक्र सब से नीचे है। सहस्रार में ब्रह्म का स्थान है। यह सब से ऊपर है। सीता पृथ्वी से निकलती हैं सब से नीचे वाले तत्त्व से। यह माध्याकर्षण शक्ति का रूपक है। इसीलिये लीला के अन्त में भूगर्भ में ही उनका प्रवेश होता है। कितना

सार्थक ऋषि-दर्शन, लीला-कल्पना है ! राम सहस्रार के ब्रह्म रूप हैं। लीला के बाद वे वहीं चले जाते हैं। यदि सीता राम के साथ सहस्रार चली गई होतीं तो आज हम यह संसार न देख सकते; क्योंकि शक्ति का अभाव साबित होता। ऋषि-कल्पना में दोष आ जाता। लीला के अंत में भी, लीला से पहले की तरह, सहस्रार-तत्त्व-राम और मूलाधार-तत्त्व-सीता हर मनुष्य में वास कर रही हैं। मानव सुख दुःख के भीतर से तत्त्वों से आए हुए तत्त्व अपने तत्त्वों में ही अवसित हुए। साधारण जन लीला-चित्र देखते हैं, विज्ञ यह छायावाद पढ़ते हैं।

कृष्ण भी वेदान्त-तत्त्व के रूपक हैं। कृष्ण का रङ्ग श्याम है। आकाश का रंग या महा-समुद्र का जल श्याम देख पड़ता है। पर उनका रंग कोई नहीं। कृष्ण उसी असीम सत्ता के रूपक हैं, इसीलिये श्याम हैं। राम भी इसीलिये "श्याम सरोज-दाम सम सुन्दर" हैं। कृष्ण की वंशी उनका विशुद्ध-हृदय है जहाँ से बेफाँस परिष्कृत स्पष्ट स्वर निकलता है। यंत्रों में वंश से बारीक और साफ़ स्वर और किसी यंत्र का नहीं। वे गोपाल हैं—इन्द्रियों के रक्षक मनस्तत्त्व—आत्मा, उधर चरवाहे। वे दुर्योधन और दुःशासन के प्रतिकूल रहते हैं—युधिष्ठिर की सहायता करते हैं। तमाम शब्दों से ऐसे-ऐसे अर्थ निकलते हैं, जिनसे तत्त्व-संगति बड़ी ही सुन्दर होती जाती है। उच्च साहित्य अपना विकास प्रदर्शित करता जाता है। उसका साधारण रूपक खिलौना-पसंद बच्चों को भी अपनी चमक-दमक में बहला रखता है और लीला या खेलों के भीतर से एक अति-मानवीय शिक्षा भी दे जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं, हमारे सभी पुराणों की छोटी-छोटी कथाओं में अध्यात्म के बड़े से बड़े तत्त्व निहित हैं, और हमारी जाति ही आध्यात्मिक जाति है। ज्ञात और अज्ञात भाव से अध्यात्म को ही उसने अपने प्रथम विकास-काल से स्वीकृत किया है।

भारतवर्ष और यूरोप की भावना की भूमि एक होने पर भी दोनों की भावनाओं के प्रसरण का ढंग अलग-अलग है। रवीन्द्रनाथ की युक्ति के अनुसार योरप की कविता के सितार में बोलवाले तार की अपेक्षा स्वर भरने-वाले तारों की झनकार अधिक रहती है। परन्तु भारतवर्ष में विशेष ध्यान

रस-पुष्टि की ओर रहने के कारण प्राणों का संचार कविता में अधिक दिखलाई पड़ता है। यहाँ के कवि व्यर्थ की बकवाद नहीं करते। यहाँ-वहाँ के उपमान उपमेयों का ढंग भी जुदा-जुदा है। यहाँ की उपमा जितनी चुभती है, वहाँ की उपमा उतना प्रभाव नहीं कर सकती। यहाँ प्रेम है, वहाँ मादकता। यहाँ दैवी शक्ति है वहाँ आसुरी। इसलिए यहाँ की कविता में एक प्रकार की शक्ति रहती है और वहाँ की कविता में प्रगल्भता। दिव्य भाव की वर्णना तो आजतक मैंने वहाँ की किसी कविता में नहीं देखी और यहाँ यही प्रधान है। यदि तुलसीकृत रामायण का अनुवाद किसी विद्वान् अँगरेज़ के सामने रख दिया जाय, तो शायद ही श्री गोस्वामीजी की कविता में उसे कोई कला (art) दिखलाई पड़े और उनके लक्ष्मण, सुमित्रा, सीता और भरत के चरित्र चित्रण को देखकर, वह उन्हें हाल ही दम लगाकर लौटा हुआ सिद्ध करने से शान्त रहे। विभीषण से वह कितना प्रसन्न होगा, सहज ही अनुमान किया जा सकता है। एशिया के कवियों में उमरखैयाम को योरप में अधिक प्रशंसा होने का कारण जितना उसकी कविता नहीं, उससे अधिक उसके उपकरण, शराब, कबाब, नायिका और निर्जन हैं। ब्रजभाषा की कविता का जितना अंश अश्लीलता के प्रसंग से अशिष्ट बतलाया जाता है, वह फिर भी मानवीय है, आसुरी नहीं। रहा आह भरना, कटाक्ष करना और नीर-भरी गगरी ढरकाना, सो मानवीय सृष्टि में शृङ्गार का परिपाक नायिकाओं के इन्हीं व्यवहारों इन्हीं आचरणों, सामाजिक इन्हीं नियमों के आश्रय से हो सकता है। न ब्रजभाषा-काल में अँगरेज़ी सभ्यता का प्रकोप भारतवर्ष में हुआ, न गधे के चित्रण में आर्ट (art) दिखलाने की कवियों को ज़रूरत मालूम पड़ी। हाँ, मानवीय सृष्टि में उस समय अश्लीलता की हद कुछ अधिक हो गई थी, मनुष्यों के नैतिक पतन के कारण।

परन्तु, मियाँ की दौड़ मसजिद तक के अनुसार, ब्रजभाषा के कवियों पर वृन्दावन, गोकुल, मथुरा और नन्दगाँव के इर्द-गिर्द चक्कर लगाते रहने का जो लाञ्छन लगाया जाता है, उसका मुख्य कारण यह नहीं कि वे राष्ट्र के अष्टावक्र वाद-विवाद से अनभिज्ञ थे। ब्रजभाषा के एक "भूषण" ने भारतीय राष्ट्र के लिये जो कार्य किया, वैसा कार्य इधर तीन सौ वर्ष के अन्दर समग्र

भारतवर्ष में अपनी कवित्व-प्रतिभा द्वारा कोई दूसरा कवि नहीं रह सका। प्रचलित रीतियों और अपने जातीय मेरु-मूलधर्म-भावों से प्रेरित होकर एक कृष्ण को ही उन लोगों ने अपनी रस-सृष्टि का मूलाधार स्वरूप ग्रहण किया, और स्मरण रहे, कृष्ण वह हैं, जिनके पेट में चौदहों भुवन—एक यह पृथ्वी या केवल योरप नहीं—चौदहों भुवन समाए हुए हैं। सर जगदीशचन्द्र को जिस दिन एक पौधे में वीक्षण-यंत्र द्वारा आश्चर्यकर अनेक विषय—अनेक सृष्टियाँ दिखलाई पड़ी थीं, उस दिन भारत के महर्षियों के मानसिक विश्लेषण पर श्रद्धा प्रकट करते हुए उन्होंने लिखा था, जी चाहता है, यह सब वैज्ञानिक विश्लेषण-कार्य छोड़ दूँ, अपने ऋषियों के गौरव की पूजा करूँ। कृष्ण की गोपियों के साथ जो मधुर रसोपासना हुई थी, स्वामी विवेकानन्दजी उसके सम्बन्ध में कहते हैं कि वह इतने उच्च भावों की है कि जब तक चरित्र में कोई शुकदेव न होगा; तब तक श्रीकृष्ण की रासलीला के समझने का अधिकारी वह नहीं हो सकता। कृष्ण का महान् त्याग, उज्ज्वल प्रेम, गीता में सर्व-धर्म-समन्वय, भारत का सर्वमान्य नेतृत्व, भारतवासियों के हृदय में स्वभावतः पुष्प-चंदन से अर्चित हुआ और वृन्दावन का कतरा व्रजभाषा के कवियों को दरिया नज़र आया। वासनावाले कवियों ने श्रीकृष्ण की वर्णना में ही अपने हृदय का ज़हर निकाला—इस तरह जहाँ तक हो सका, अपने धर्म को ही वासना से अधिक महत्त्व दिया। कुछ लोगों ने राजों-महाराजों और अपने प्रेम-पात्रों पर भी कविताएँ लिखीं।

सूर की पदावली के एक पद की अंतिम लड़ी शायद यों है—"समझयो सूर सकट पगु पेलत।" इस पद के पढ़ते समय दर्शन-शास्त्र की सर्वोच्च युक्ति दिखलाई पड़ती है। इस पद में कहा गया है, बालक श्रीकृष्ण अपना अंगूठा मुँह में डाल रहे हैं और इससे तमाम ब्रह्मांड डोल रहा है—दिग्दन्ती अपने दाँतों से दृढ़ता-पूर्वक धरा-भार के धारण का प्रयत्न कर रहे हैं। इन पंक्तियों में भक्तराज श्रीसूरदासजी का अभिप्राय यह है कि किसी एक केन्द्र के चेतन स्वरूप से तमाम संसार, संपूर्ण विश्वब्रह्मांड के प्राणी गुँथे हुए हैं, इसलिये उनके हिलने से यह सौर-संसार भी हिलता है। दिग्गजों और शेषजी को धारण करने की शक्ति दी गई है। ताकि प्रलय न हो जाय। इसलिए श्रीकृष्ण

की—मुख में अँगूठा डालने की चेष्टा से हिलते हुए तमाम चेतन संसार को शेष और दिग्गज अपनी धारणाशक्ति से बार-बार धारण करते हैं। इस चेतन के कम्पन-गुण से कहीं-कहीं खण्ड-प्रलय हो भी जाता है। अस्तु-भारतीय विश्ववाद इस प्रकार का चेतन-वाद है जिसमें अगणित सौर-संसार अपने सृष्टि-नियमों के चक्र से विवर्तित होते आ रहे हैं। सूर ने चेतन की यह क्रिया समझी, इसीलिये "सकट पगु पेलत"—धीरे धीरे चल रहे हैं—स्थिर होकर क्रमशः चेतन-समाधि में मग्न होने की चेष्टा कर रहे हैं—साधना कर रहे हैं। हर एक केन्द्र में वह चेतन स्वरूप, वह आत्मा वह विभु मौजूद है। सूर ने कृष्ण के ही उज्ज्वल केन्द्र को ग्रहण किया, तुलसी ने श्रीरामचन्द्र के केन्द्र को और कबीर ने 'निर्गुन आत्मा' का—बिना केन्द्र के केन्द्र को। भारत के सिद्धान्त से यथार्थ विश्वकवि यही हैं—कबीर, सूर और तुलसी-जैसे महाशक्ति के आधार-स्तंभ। तुलसी भी—"उदर माँझ सुनु अंडजराया; देख्यों बहु ब्रह्मांड निकाया" से अगणित विश्व की वर्णना कर जाते हैं, और यह भ्रम नहीं—वे ज़ोर देकर कहते हैं—"यह सब मैं निज नयनन देखा।" भारत का विश्ववाद इस प्रकार है। भारत के विश्वकवि जड़ विश्व की धूल पाठकों पर नहीं झोंकते—वे ब्रह्मांडमय चेतन का अंजन उनकी आँखों में लगाते हैं।

वर्तमान विश्ववाद ब्रजभाषा और भारतवर्ष की तमाम भाषाओं के कवियों में चेतन-वाद या वेदांतवेद्य अनंतवाद के रूप में मिलता है। जो लोग यह समझते हैं कि भारतवर्ष के पिछले दिनों में लोगों की बुद्धि संकुचित हो गई थी,—यह कहने का साहस कर बैठते हैं कि ब्रजभाषा में कुछ कवियों को छोड़ कर प्रायः अन्यान्य और सब कवि एक साधारण सीमा के अन्दर ही तेली के बैल की तरह अंध चक्कर काटते चले गये हैं, वे वास्तव में ग़लती पर हैं। यह अवश्य है कि भारतवर्ष की उदारता, उसका विशाल हृदय, मुसलमानों से लड़ते लड़ते प्रतिघातों के फल से धार्मिक संकीर्णता में मृदु-स्पंदित होने लगा था, और उसकी व्यावहारिक विशालता चौके के अन्दर आ गई थी; परन्तु, दार्शनिक अनुलोम-विलोम के विचार से बाहरी आसुरी दबाव के कारण भारतीय दिव्य प्रकृतिवाले मनुष्यों का इतना संकुचित हो जाना स्वाभाविक सत्य का ही परिचायक सिद्ध होता है। हर एक मनुष्य, हर

एक प्रकृति, हर एक जाति, हर एक देश दबाव से संकुचित रूप धारण करता है। ब्रजभाषा-काल में इस दबाव का प्रभाव जातीय साहित्य में भी पड़ा, और उस काल की हमारी हार हमारी संकुचित वृत्ति का यथेष्ट परिचय देती हैं, यह सब ठीक है; परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि वह दबाव आवश्यक था, जाति को संकुचित करके उसे शक्तिशाली सिद्ध करने के लिये—शेर जब शिकार पर टूटता है तब, पहले उसकी तमाम वृत्तियाँ—सारा शरीर सिकुड़ जाता है और इस संकोच से ही उसमें दूर तक छलाँग भरने की शक्ति आती है। ब्रजभाषा-काल का जातीय संकोच जिस तरह देखने के लिये बहुत छोटा है, उसी तरह उसने छलाँग भी भरी उससे बहुत लम्बी—धर्म के नाम पर इस काल के इतना त्याग शायद ही भारतवर्ष ने दिखाया हो—"Either sword or Quran" वाले धर्म के सामने हर्ष-विषाद-रहित हो जाति के वीरों ने अपने धर्म-गर्वोन्नत मस्तकों की भेंट चढ़ाई। एक-दो नहीं, अगणित सीताएँ और सावित्रियाँ पैदा होकर अपने उज्ज्वल सतीत्व का जौहर दिखलाती गईं। उस संकोच के भीतर से करोड़ों शेर कूदे, आज जिनकी वीरता ब्रज-भाषा-काल के साहित्य के पृष्ठों में नहीं, चारणों के मुखों में प्रतिध्वनित हो रही है, जैसे उस समय की सीमा को वे वीर एक ही छलाँग में पार कर गये और अपने भविष्य-वंशजों के पैरों में एक छोटी-सी बेड़ी डाल गये—भविष्य के सुधार की आशा से। आजकल के साहित्यिक चीत्कार इसी बेड़ी के तोड़ने के लिये हो रहे हैं—धार्मिक, सामाजिक और नैतिक निनादों के साथ-साथ।

जिस तरह धार्मिक छलाँग भरी गई, उसी तरह साहित्यिक भी—हमेशा ध्यान रक्खा गया, एक पद्य के अन्दर—एक छोटी-सी सीमा में भावों की विशालता ला दी जाय। मथुरा-ब्रज-गोकुल और द्वारका की छोटी-सी सीमा में भटकने का कोई कारण नहीं—यह तो कवियों के भावों की दिव्य-आधार कृष्ण पर की गई प्रीति है—भाव ग्रहण करना चाहिए, न कि केवल "श्याम" के नाम ही पर ध्यान देना चाहिए, देखिए—

सावन-बहार झूलै घन की घुमंड पर,
घन की घुमंड पौन चञ्चला के दोले पै।

चञ्चला ह्वै झूलै घन सेवक आकाश पर,

झूलत अकास लाज-हौसले के टोले पै।"

लाज और हौसले के टोले में आकाश झूलता है,—समाज और हौसले के आनन्द के कम्पन से तमाम प्रकृति—समस्त आकाश के परमाणु आनन्द से काँपते हैं—देखिए चेतन—देखिए सौंदर्य की दिव्य मूर्ति—आकाश जैसे बड़े को लाज-जैसी छोटी-सी सखी के टोले में झुला दिया—कितने बड़े को कितने छोटे को!

प्रकृति की एक साधारण सी बात पर कवि की कल्पना में कितनी सुकुमारता आ सकती है, रवीन्द्रनाथ की पंक्तियों से बहुत ही स्पष्ट परिचय मिल रहा है; "नदी की लहर तट की पुष्पित डाली के पुष्प को स्पर्श कर बहती चली जाती है;" इस पर, कवि, लहर की सजीवता, उसके आने का कारण—क्रीड़ाच्छल, स्पर्श से पुष्प को चूमना और स्वभाव में लहर का प्रकृति-सिद्ध पलायन—चञ्चलता दिखला कर प्राकृतिक सत्य को कल्पना से सजीव कर देता है। और इसके पश्चात्, फूल की तरुणी कामिनी का हाल लिखकर आदिरस को वेदांत के लोकोत्तरानन्द में ले जाकर परिसमाप्त करता है। बाद के अंश का प्राकृतिक सत्य यह है:—"लहर के छू जाने पर डाली और फूल हिलते हैं, फिर फूल खुल कर नदी में गिर जाता है।" पहले कहा जा चुका है कि फूल को चूमकर लहर भग गई। वहाँ यह पुष्प पुरुष-पुष्प है। पुरुष-पुष्प को चंचला नायिका के चूम कर भग जाने के पश्चात्, दूसरी अधखिली कली को, जो चूमी नहीं गई, कवि, फूल की तरुणी कामिनी कल्पना कर, उसकी लज्जा, कंपन, स्खलन और बह कर असीम में मिलने के अङ्कन-सौंदर्य से, कविता में स्वर्गीय विभूति भर देता है—

"शरम-विमला कुसुम-रमणी"—

"शर्म से कुसुम-कामिनी व्याकुल है" इसलिये कि अभिसारिका उसके प्रेमी को चूमकर चली जा रही है—

"फिरावे आनन शिहरि अमनि"

"शिहरि"=काँपकर (यह कंपन, प्राकृतिक सत्य से, लहर के छू जाने पर डाली के साथ कली के काँप उठने से, लिया गया है) तत्काल वह मुँह

फेर लेगी । (प्रेमिका का मान, लज्जा, अपने नायकों से उदासीनता आदि, मुख फेर लेने के साथ, प्रकट है; उधर, डाल के हिलने, हवा के लगने से अधखिली कली का एक ओर से दूसरी ओर झुक जाना प्राकृतिक सत्य है, जिस पर यह सार्थक कल्पना का प्रवाह बह रहा है ।)—

"आवेशे ते शेषे अवश होइया
खसिया पड़िया जावे"—

"अन्त में वह आवेश से शिथिल हो खुलकर गिर जायगी ।" (डाल के हिलने से उस सद्यःस्फुट कली का वृन्त से च्युत होना प्राकृतिक सत्य है, इसे कल्पना का रूप देकर कवि कहता है, वह पुष्प की तरुणी प्रिया, आवेश से—भावातिरेक से शिथिल होकर नदी के ऊपर, वक्ष में, गिर जायगी ।)—

"भेसे गिये शेषे कांदिबे हाय
किनारा कोथाय पावे ।"—

'हाय ! वह बहती हुई रोवेगी, क्या कहीं उसे किनारा प्राप्त होगा ?"

"हाय" और "कोथाय" के बीच, उत्थान और पतन के स्वर हिलोर में बहती हुई कुसुम-कामिनी को जैसे वास्तव में कहीं किनारा न मिल रहा हो । कामिनी को अकूल अदृश्य की ओर बहाकर कवि पाठकों को भी निःसीम आनन्द में बहा देता है ।

योरप की कविता के जो अच्छे गुण हैं, मैं उनका हृदय से भक्त हूँ, उनकी वर्णना-शक्ति स्वीकार करता हूँ, परन्तु यह उन्हीं की दृष्टि से, तुलनात्मक समालोचना द्वारा नहीं । जिस दिन भारत में अपने पैरों खड़े होने की शक्ति आएगी—यह स्वाधीन होगा—उस दिन तक यूरप के इन भावों की क्या दशा रहती है, हम लोग दस-बीस जीवन के बाद देखेंगे । उस समय समा-लोचना की ये बातें याद न रहेंगी । ब्रजभाषा के पक्ष की अनेक बातें, अनेक उदाहरण, प्रासंगिक होने पर भी, नहीं दिये जा रहे हैं । ब्रजभाषा के कवियों ने सौंदर्य को इतनी दृष्टियों से देखा है कि शायद ही कोई सौंदर्य उनसे छूटा हो—शायद ही किसी दूसरी जाति ने अपने सुख के दिन इतनी आवारगी में बिताये हों और वह जाति जाग्रत होने के बदले काल के गर्भ में चिरकाल के लिये विलीन न हो गई हो ।

इस समय देश में जितने प्रकार की विभिन्न भावनाएँ; हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि आदि की जातीय रेखाओं से चक्कर काटती हुई गंगा-सागर, मक्का और जरूसलेम की तरफ़ चलती रहती हैं, जिनसे कभी एकता का सूत्र टूटता है, कभी घोर शत्रुता ठन जाती है, उनके इन दुष्कृत्यों का सुधार भी साहित्य में है और उसी पर अमल करना हमारे इस समय के साहित्य के लिये नवीन कार्य, नई स्फूर्ति भरने वाला, नया जीवन फूंकने वाला है। साहित्य में बहिर्जगत-सम्बन्धी इतनी बड़ी भावना भरनी चाहिए जिसके प्रसार में केवल मक्का और जरूसलेम ही नहीं, किन्तु संपूर्ण पृथ्वी आ जाय। यदि हद गङ्गासागर तक ही रही तो कुछ जन-समूह में मक्के का खिंचाव ज़रूर होगा या बुद्धदेव की तरह वेद-भगवान् के विरोधी घर ही में पैदा होंगे। पर मन से यदि ये जड़-संयोग ही ग़ायब कर दिये जा सकें तो तमाम दुनियाँ के तीर्थ होने में संदेह भी न रह जाय। यह भावना साहित्य की सब शाखाओं, सब अङ्गों के लिए हो और वैसे ही साहित्य की सृष्टि।

यह साहित्यिक रङ्ग यहीं का है। कालक्रम से अब हम लोग उस रङ्ग से खींचे हुए चित्रों से इतने प्रभावित हैं कि उस रङ्ग की याद ही नहीं, न उस रङ्ग के चित्र से अलग होने की कल्पना कर सकते हैं, और इसीलिए पूर्ण मौलिक बन भी नहीं पाते, न उससे समयानुकूल ऐसे चित्र खींच सकते हैं जो समष्टिगत मन की शुद्धि के कारण हों।

राजनीति में जाति-पाँति-रहित एक व्यापक विचार का ही फल है कि एक ही वक्त तमाम देश के भिन्न भिन्न वर्गों के लोग समस्वर से बोलने और एक राह से गुजरने लगते हैं। उनमें जितने अंशों में व्यक्तिगत रूप से सीमित विचार रहते हैं उतने ही अंशों में वे एक दूसरे से अलग हैं, इसलिए कमज़ोर। साहित्य यह काम और खूबी से कर सकता है जब वह किसी भी सीमित भावना पर ठहरा न हो। जब हर व्यक्ति हर व्यक्ति को अपनी अविभाजित भावना से देखेगा तब विरोध में खंडक्रिया होगी ही नहीं। यही आधुनिक साहित्य का ध्येय है। इसके फल की कल्पना कर लीजिए।

प्रायः सभी कलाओं के लिये मूर्ति आवश्यक है। अप्रतिहत मूर्ति-प्रेम ही कला की जन्मदात्री है। जो भावना-पूर्ण सर्वांग-सुन्दर मूर्ति खींचने में

जितना कृतविज्ञ है वह उतना बड़ा कलाकार है। पश्चिमी सभ्यता के मध्यकाल तक जब संसार की विभिन्न-सभ्यता-प्रसूत वस्तु-भावनाओं का श्रेणी-विभाग, संचय तथा उपयोग नहीं हुआ था, कलाएँ अपने-अपने देश, संस्कृति तथा चलन के अनुसार विभिन्न आकार, इङ्गित तथा भावनाएँ प्रदर्शित करती हुई भी एक ऐसी व्यञ्जना कर रही थीं जो अनेकों विभिन्नताओं के भीतर से एक भाव-साम्य की स्थापना करती थी। संसार को भौतिक सभ्यता से सब देशों के गुँथ जाने के कारण संसार भर के लोगों को यह आत्मिक लाभ पहुँचा। फल-स्वरूप कला में देश-भाव की जो संकीर्णता थी आदान-प्रदान की सहृदयता ने उसे तोड़ दिया, कला की सृष्टि व्यापक विचारों में होने लगी, और हर जाति की उत्तमता से प्रेम-सम्बन्ध जोड़ कर उससे अपनी जातीय कला को प्रभावित करने लगी।

काव्य तथा काव्य-जन्य संस्कृति पर भी यह प्रभाव पड़ा। प्राचीन माल-कोश राग की वीर मूर्ति अंग्रेज़ी स्वर में, नायिका के दिल का दर्द भैरवी से अधिक उर्दू की ग़ज़लों में मिलने लगा, और भी बहार तथा आसावरी की लोकप्रियता थिएटरों के मिश्र-हृदय को गुदगुदा कर बाहरी चपलता से गिरह लगा देनेवाली रागिनियों ने ले ली। इस प्रकार प्राथमिक चित्र भी अपने जातीय पद-वैशिष्ट्य की परिखा पार कर संसार के प्रांगण में नये दूसरे रूप से देख पड़ने लगे। उनके रूप-भाग में कुछ देशीय विशिष्टता रह गई; पर अरूप भाग से वे मनुष्य मात्र की संपत्ति बन गये। अरूप अंश, वर्णना भेद के रखने पर भी, पूर्ववत् अक्लेद रहा, रूप-अंश ने जातीय विशिष्टता को रखते हुए संसार की सभ्यता से भी सहयोग किया।

रवीन्द्रनाथ भारतीय काव्य-साहित्य में इस कला के निपुण कलाकार हैं।

उदाहरण—

"अचल आलोके रयेछ दांड़ाये,
किरण-वसन अङ्गे जड़ाये,
चरणेर तले पड़िछे गड़ाये,
छड़ाये विविध भङ्गे,

गन्ध तोमार घिरे चारि धार,
उड़िछे आकुल कुन्तल-भार,
निखिल गगन कांपिछे तोमार,
परस-रस-तरंगे।

(निस्पन्द प्रकाश में तुम खड़ी हुई हो, किरणों से शुभ्रवसना, चरणों से किरणों की धारा झर रही है, विविध भंगों से टूटती चलती हुई। तुम्हारी अंग-सुरभि चारों दिशाएँ घेरे हुए हैं। आकुल केशों का भार उड़ता हुआ, तुम्हारे स्पर्श-रस की तरंगों से अखिल आकाश प्रकाशित हो रहा है।)

यह नारी-मूर्ति इतनी मार्जित है कि इसे देखकर कोई विश्व-नागरिक इस ज्योतिर्मय रूप को पाकर मुग्ध हो जायगा। तुलसीदास के केवल सौंदर्य-रूप राम की तरह रवींद्रनाथ की सुन्दरी में जड़ता अणुमात्र के लिए भी नहीं। यहाँ एक जगह रवीन्द्रनाथ का पश्चिम-स्नेह रूप-मय प्रमाण के तौर पर प्रत्यक्ष होता है। जहाँ चरणों से ज्योति की धारा प्रवाहित हो चलती है, वहाँ ध्यान पश्चिम की सम्राज्ञियों के पीछे लटकते हुए लम्बे वस्त्र की ओर आप चला जाता है।

सौन्दर्य, रूप तथा भावनाओं के आदान-प्रदान में केवल पूर्व ही पश्चिम से प्रभावित हुआ यह नहीं सहृदयता का अमृत यहाँ से वहीं अपनी मृतसंजीवनी का विशिष्ट परिचय दे रहा, जिन-जिन प्रान्तों में अंग्रेज़ी शासन का पहला प्रभाव पड़ा, इस नवीन साहित्य की जड़ वहाँ-वहाँ पहले जमी, और इसलिये वहाँ के साहित्यिक इस कार्य में बहुत कुछ प्रगति कर सके। मेरा मतलब ख़ास तौर से बंगाल के लिये है।

बंगाल के अमर काव्य 'मेघनादवध' के रचयिता माइकेल मधुसूदन दत्त के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि उन्होंने अपने महाकाव्य की रचना कई देशों के महाकवियों के अध्ययन के पश्चात् की थी। वे फ्रेंच, ग्रीक, लैटिन आदि कई भाषाएँ जानते थे, और योरप में रहने के समय काव्य-शास्त्र में काफ़ी प्रवेश कर लिया था। कुछ हो, माइकेल मधुसूदन की रचना में जितनी शक्ति मिलती है, उतना जीवन नहीं मिलता है। रवीन्द्रनाथ के द्वारा बंग-भाषा को वह जीवन मिलता है। उनकी अकेली शक्ति बीस

कवियों का जीवन तथा इन्द्रजाल लेकर साहित्य के हृदय-केन्द्र से निकली और फैली।

हिन्दी में छायावादी कहलानेवाले कवियों से उसका श्रीगणेश हुआ। प्राचीन साहित्य के रक्षकों की साहित्यिक प्रतिष्ठा को पार कर अपनी नवीनता को जड़ साहित्य के हृदय में पूर्ण रीति से जमाने में अकृतकार्य रहने पर भी, अधिकांश आलोचकों के कहने के अनुसार पद्य-साहित्य का बाज़ार आजकल इन्हीं के हाथ है। विचारदृष्टि से यद्यपि श्रेय अभी खड़ी बोली के मध्यकाल के कवियों का अधिक है, पर जहाँ प्राणों की बात उठती है, वहाँ आधुनिक कवि ही ज्यादा ठहरते हैं। प्रसादजी की भावनाओं और पंतजी के चित्रों में अभीप्सित नवीनता की कोमल किरणें बड़ी खूबसूरती से फूट रही हैं।

पर अभी हमारे नवीन साहित्य को समयानुकूल परिमार्जन और विराट भावनाओं की बड़ी आवश्यकता है। इतने से दैन्य दूर न होगा। उसकी दिगन्त पुष्टि अभी नहीं हुई, कारण जो भी हो, हमारे नये पद्य-साहित्य में विराट चित्रों की ओर कवियों का उतना ध्यान नहीं; जितना छोटे-छोटे सुन्दर चित्रों की ओर है। युक्तप्रांत, विहार, मध्यभारत, मध्यप्रांत आदि ऐसी प्रकृति की गोद में हैं जहाँ विराट दृश्यों की अपेक्षा बाग तथा उपवनों के छोटे चित्र ही विशेषतः सूझते हैं। बड़ी-बड़ी नदियों, समुद्र तथा आकाश के उत्तमोत्तम चित्र नहीं मिलते। रवीन्द्रनाथ द्वारा अङ्कित सौन्दर्य का एक विराट चित्र देखिए—

जेनो गो विवशा होयेछे गोधूली,
पूरबे आँधार वेणी पड़े खुली
पश्चिमेते पड़े खसिया खसिया
सोनार आँचल तार।

(मानों गोधूलि विवश हो रही है, पूर्व ओर उसकी अंधकार वेणी खुली पड़ती है और पश्चिम की तरफ़ खुल-खुल कर उसका सोने का आँचल गिर रहा है।)

छोटे रूप की क्षणिक प्रभा में स्थायी प्रभाव न मिलने के कारण रवीन्द्रनाथ कहते—

क्षुद्ररूप कोथा जाय बातासे उड़िया
तुइ चार पलकेर पर,

(छोटा रूप न जाने कहाँ हवा में दो ही चार पल में उड़ जाता है)

साहित्य के हृदय को दिगन्त-व्यापी करने के लिए विराट रूपों की कल्पना में प्रतिष्ठा करना अत्यन्त आवश्यक है। अवश्य छोटे रूपों के प्रति यहाँ कोई द्वेष नहीं दिखलाया जा रहा। रूप की सार्थक लघु विराट कल्पनाएँ संसार के सुन्दरतम रङ्गों से जिस तरह अङ्कित हों, उसी तरह रूप तथा भावनाओं के अरूप में सार्थक अवसान भी आवश्यक है। कला की यही परिसमाप्ति है और काव्य का सबसे अच्छा निष्कर्ष। इस प्रकार काव्य के भीतर से अपने जीवन के सुख-दुख-मय चित्रों को प्रदर्शित करते हुए परिसमाप्ति पूर्णता में होगी। जैसे :—

कभी उड़ते पत्तों के साथ
मुझे मिलते मेरे सुकुमार,
बढ़ाकर लहरों से लघु हाथ
बुलाते हैं मुझको उस पार।
(सुमित्रा-नन्दन पंत)

यहाँ उड़ते पत्ते और तट की लहरें अनन्त, असीम का इंगित करती हुई उस पार बुलाती हैं। लौकिक सब रूपों को अलौकिकता में पर्यवसित करने का बलशाली संकेत जैसे इस कविता की, वैसे ही सम्पूर्ण भारतीय कविता की प्रमुख विशेषता है। किसी भी तत्वदर्शी को इस सम्बन्ध में सन्देह नहीं हो सकता।

मुद्रक—पं० मगनकृष्ण दीक्षित, दीक्षित प्रेस, मुट्ठीगंज, प्रयाग
प्रकाशक—तरुण भारत ग्रन्थावली-कार्यालय, गांधीनगर, कानपुर की ओर से
साहित्य-मन्दिर, दारागंज, प्रयाग